श्री हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला २०५

॥ श्रीः ॥

नैषधमहाकाव्यम्

'जीवातु' 'प्रबोधिनी' व्याख्याद्वयोपेतम्

Seema Singh





चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रथम सर्ग १-००   १-३ सर्ग १-७५

१-५ सर्ग ३-५०   १-९ सर्ग ६-००

संपूर्ण १६-००

॥ श्रीः ॥

महाकवि श्रीहर्षप्रणीतं

नैषधमहाकाव्यम्

महामहोपाध्याय श्री मल्लिनाथकृत 'जीवातु' व्याख्यायुत-
'मणिप्रभा' नामक हिन्दीटीकासहितम्

हिन्दीटीकाकारः—
व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कालर-मिश्रोपाह्व-
पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

प्राक्कथनलेखकः—
पण्डित श्री त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय, एम. ए.
प्रिंसिपल-गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७०

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, व

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी–१

संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०२७

मूल्य–

प्रथम सर्ग १–००, १–३ सर्ग १–७५, १–५ सर्ग ३–

१–९ सर्ग ६–००, सम्पूर्ण ग्रन्थ १२–००

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० बा० ८, वाराणसी–१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी–१

फोन : ६३०७६

प्राक्कथन

[लेखक—त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
प्रधानाचार्य—राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी]

... संसार की सर्वप्रथम भाषा है, इसका साहित्य अत्यन्त सुन्दर ...द्ध है, पहले गृहे गृहे और जने जने इसका प्रचार था तथा जीवन ... क्षेत्रों में इसका व्यवहार होता था। बाद में कालक्रम से समाज में विविध परिवर्तन हुये, जिसके कारण शिथिलता आने से ...गति मन्द पड़ने लगी और निकट अतीत में विदेशी शासन के ... इसकी घोर उपेक्षा हुई। किन्तु अब स्वतन्त्र भारत के सुप्रभात ... तथा शासन दोनों ही का आकर्षण इस ओर बढ़ रहा है। ऐसी ... संस्कृत के उत्तमोत्तम ग्रन्थों को सरल संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा ... से जनसम्पर्क में लाना संस्कृत के विद्वानों का प्रधान कर्तव्य ... श्रीहर्ष जैसे महान् दार्शनिक कवि की रमणीय रचना 'नैषध' ...षा में अनूदित करने का पं० हरगोविन्द शास्त्री जी का उपक्रम ...स्तुत्य है इनकी अनुवाद-भाषा बड़ी ही रोचक, मोहक तथा मूल ... अभिव्यंजन में पूर्ण क्षम है। मेरा विश्वास है कि संस्कृत के ...न कृति का पूरा आदर कर अनुवादक को उत्साहित करेंगे, ...नकी प्रौढ़ लेखनी से संस्कृत के अधिकाधिक ग्रन्थ राष्ट्रभाषा ... होकर जनजिज्ञासा की तृप्ति और देश का महान् मंगल कर

...१-५४

त्रि० प्र० उपाध्याय

सम्मतिपत्र

[लेखक—पण्डित श्री बदरीनाथ शुक्ल एम० ए०

प्रधानाध्यापक—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी]

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं का शिरोमुकुट, समग्र उदात्त और उज्ज्वल विचारों की मनोरम मंजूषा तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की कमनीय कुंचिका है। यही कारण है कि अनेक शताब्दियों से अनादृत एवं उपेक्षित होने पर भी इसकी मधुरता और ओजस्विता अब भी ज्यों की त्यों बनी है। किन्तु यह सन्तोष की बात है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' की जिस नीति ने इसे जनता से दूर कर दिया था उसी के आधार पर भारत की स्वतन्त्रता के समुन्मेष के साथ ही जनता की रुचि में संस्कृत की उन्मुखता पुनः अभिवृद्ध होने लगी है। अतः संस्कृत के प्रचार में अवांछनीय मन्दता आ जाने के कारण संस्कृत में निहित जो ज्ञान-विज्ञान समाज को दुष्प्राप्य हो गये हैं उन्हें अब हिन्दी के माध्यम से जनता के बीच प्रसारित करना संस्कृत के विद्वानों का समयोचित धर्म हो गया है। मैं पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री जी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपनी सिद्ध लेखनी से एक ऐसे ग्रन्थ को हिन्दी में अनूदित करने का प्रयास किया है कि जिसमें भारत के आदर्श नरेश नल और आदर्श नारी दमयन्ती का पावन चरित्र दार्शनिक शिरोमणि महाकवि श्रीहर्षद्वारा उच्चतम कोटि की काव्यकला में वर्णित हुआ है जिसके परिचय तथा अनुकरण से मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। अनुवाद की भाषा बड़ी मंजुल और प्रांजल है तथा अध्येता को कवि के वास्तविक अभिप्राय के अत्यन्त निकट पहुँचाने की पूरी क्षमता रखती है। मेरा विश्वास है कि यह अनुवाद संस्कृतप्रेमी जनों को आवर्जित कर पर्याप्त प्रसार प्राप्त करेगा जिससे प्रकाशक और अनुवादक उत्साहित हो संस्कृत साहित्य की अन्य कृतियों को भी हिन्दी द्वारा जनता को हृदयंगम कराकर मानवता के मंगलमय विकास में पूर्ण सहयोग कर सकेंगे।

बदरीनाथ शुक्ल

भूमिका

काव्यप्रयोजन—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

पुरुषार्थचतुष्टयको प्राप्त करना प्राणिमात्रका उद्देश्य होता है। उसके लिये योगसाधन, तपश्चरण, देवाराधन, तन्त्र-मन्त्रोपासना, आदि विविध उपाय शास्त्रोंमें अनेकत्र वर्णित हैं, और उन्हें प्रायः कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति क्लेशादि सहन करके ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उत्तम काव्यके सेवनसे साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी सुखपूर्वक उक्त उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है; जैसा कि साहित्यदर्पणकारने कहा है—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव.......................... (सा० द० १।२)

भामहने सत्काव्यको पुरुषार्थचतुष्टयप्राप्तिके साथ-साथ कलाओंमें विचक्षणता, प्रीति तथा कीर्तिका साधक कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' (काव्यालङ्कार १।२)

इतना ही नहीं, काव्यसे कालिदासादिके समान यश, राजराजेश्वर श्रीहर्षादिसे कविश्रेष्ठ बाणादिके समान अर्थलाभ, सूर्यस्तुतिद्वारा मयूरादिके समान कुष्ठादिमहारोग-निवृत्ति, तत्काल ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्दलाभ तथा स्त्रीवत् सदुपदेशादिलाभ भी सम्भव है, जैसा कि मम्मटाचार्यने कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥'

रुद्रटने तो काव्यको समस्त अभिमतको देनेवाला कहा है—

'अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
स्वरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥' (काव्याल० १।८)

राजानक कुन्तकने तो काव्यको पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिसे भी अधिक आनन्दप्रद कहा है—

'चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥' (वक्रोक्तिजीवित)

यही कारण है कि कष्टप्रद योग-तपश्चर्यादि साधनोंका त्याग कर सुखसाध्य काव्य-

सेवनके द्वारा ही चरमोद्देश्यप्राप्ति करनेके लिए लोगों की प्रवृत्ति होती है, जैसा कि आचार्य भामहने कहा है—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥' (काव्यालङ्कार ५।३)

राजानक कुन्तक ने भी अन्य शास्त्रोंको कड़वी दवा के समान तथा काव्यको मधुर दवाके समान अविवेकरूपी रोगका नाशक कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥ (वक्रोक्तिजीवित)

नैषधचरितकी काव्यश्रेष्ठता—

म० म० पं० शिवदत्त शर्माके कथनानुसार पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा द्वारा प्रकाशित काव्य-मालाके मुद्रणके पूर्व 'रघुवंश, किरातार्जुनीय, कुमारसम्भव, शिशुपालवध और नैषधचरित' इन पाँच ही काव्योंका पठन-पाठन प्रचलित था। कुछ विद्वानोंका मत है कि—'लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी' नामसे प्रसिद्ध छः काव्योंका अध्ययनाध्यापन प्रचलित था। लघुत्रयीमें 'रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत' और बृहत्त्रयीमें 'किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' की गणना है। इनमें-से प्रथम 'लघुत्रयी' संज्ञक तीन काव्य महाकवि कालिदास-के तथा 'बृहत्त्रयी' संज्ञक काव्योंमें 'किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' महाकाव्य क्रमशः महाकवि भारवि, माघ तथा श्रीहर्षद्वारा विरचित है। इन तीनों महाकवियोंमें विद्वानोंने श्रीहर्षको ही सर्वश्रेष्ठ माना है—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥' इति ।
'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ? ॥' इति ।

उक्त प्रथम पद्यमें माघमें उपमादि गुणत्रयका अस्तित्व कहनेसे माघकी श्रेष्ठता कहकर द्वितीय पद्यमें श्रीहर्षकी सर्वश्रेष्ठता स्पष्टरूपमें प्रतिपादित की गई है।

श्रीहर्षका जीवनचरित—

महाकवि श्रीहर्षके पिताका नाम 'श्रीहीर' तथा माताका नाम 'मामल्लदेवी' था। इसे स्वयं श्रीहर्षने नैषधचरितके प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकके पूर्वार्द्धमें स्पष्ट कहा है—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।'

कतिपय विद्वान् 'माम् + अल्लदेवी' ऐसा पदच्छेद करके इनकी माताका नाम 'अल्लदेवी' था, ऐसा कहते हैं। किन्तु अन्य विद्वानोंका मत है कि 'वातापि' के निकट 'मामल्लपुर'

नामका नगर ही श्रीहर्षकविकी माताका निवासस्थान और उसी आधारपर इनका नाम 'मामल्लदेवी' हुआ।

'श्रीहीर' वस्तुत ही विशिष्ट विद्वान् थे। ये काशीके राजा 'विजयचन्द्र' की राजसभाके प्रधान पण्डित थे। कहा जाता है कि इनको राजाके समक्ष एक पण्डितने शास्त्रार्थमें पराजित किया। उक्त पण्डितके नामके विषयमें एकमत न होनेपर भी 'चाण्डू' पण्डितकी स्वकृत टीकाके आरम्भमें लिखी गयीं—'प्रथमं तावत्कविर्जिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यन्तर्षणतया कटाक्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुषार्थैरभिमानमनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकतानतां निनाय।' पङ्क्तियोंसे श्रीहर्षके पिता 'श्रीहीर' को पराजित करने वाले मैथिल नैयायिक प्रसिद्ध विद्वान् 'उदयनाचार्य' ही थे, इसमें सन्देहका कोई स्थान नहीं रहता। अस्तु, राजसभामें पराजित 'श्रीहीर' ने सुपुत्र श्रीहर्षसे कहा कि 'पुत्र! यदि तुम सुपुत्र हो तो मेरे विजेताको पराजित कर मेरा मनस्ताप दूर करना।' 'श्रीहर्ष' ने भी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर सद्गुरुसे तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्यौतिष, वेदान्तादिदर्शन, योगशास्त्र एवं मन्त्रशास्त्रका सम्यक् प्रकारसे अध्ययन कर 'चिन्तामणि' मन्त्र[1]का अनन्यमनस्क हो एक वर्ष[2] तक जप करनेसे प्रत्यक्ष हुई त्रिपुरादेवीके वरदानसे ऐसी विद्वत्ता प्राप्त की कि इनके कथनको कोई विद्वान् समझ ही नहीं पाता था। यह देख श्रीहर्षने आराधनासे त्रिपुरादेवीका पुनः साक्षात्कार कर कहा कि—मातः! आपके वरप्रसादसे प्राप्त मेरा प्रखरतम पाण्डित्य भी सदोष ही रहा, क्योंकि मेरे कथनको कोई विद्वान् समझता ही नहीं, अत एव ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे

---

१. 'चिन्तामणि' मन्त्रका स्वरूप यह है—

'अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिद्ध्यतु स ते॥'

(१४।८५)

२. 'चिन्तामणि' मन्त्रका महत्त्व कविने स्वयं इन शब्दोंमें कहा है—

'सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥
पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारु हंसेन मां चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य॥'

(१४।८६-८७)

कथनको विद्वान् लोग समझने लगें। यह सुन देवीने कहा कि—आधी रातमें गीले वस्त्रको मस्तकपर रखना तथा मट्ठा पीना, जिससे कफबाहुल्य होकर जाड्यवृद्धि होनेपर तुम्हारे कथनको लोग समझने लगेंगे। श्रीहर्षने वैसा ही किया और उनके कथनको विद्वान् लोग समझने लगे। तदनन्तर इन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जैसा कि नैषधचरितके चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, नवम, द्वादश, सप्तदश तथा अष्टादश सर्गोंके अन्तमें क्रमशः स्थैर्यविचारप्रकरण, श्रीविजयप्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, अर्णववर्णन, नवसाहसाङ्कचरित, छिन्दप्रशस्ति तथा शिवशक्तिसिद्धि ग्रन्थोंके नामोंका इन्होंने स्वयमेव उल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर श्रीहर्ष कन्नौजके अधिपतिके यहाँ पहुँचे। उनका आगमन सुनकर विद्वद्गुणग्राही राजाने मन्त्री, सभापण्डित आदिके साथ नगरके बाहर जाकर उनकी अगवानी करके यथोचित सत्कार किया। राजाकी गुणिप्रियतासे अतिशय हर्षित श्रीहर्षने राजा की स्तुति करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विषये स्मरः स्त्रीरस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥'

और उच्चस्वरसे विस्तृत व्याख्यान किया। यह सुन इनकी विद्वत्तासे समस्त सभासदोंके सहित राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। तदनन्तर श्रीहर्षने अपने पिताके विजेता उदयनाचार्यको लक्ष्य कर कटाक्ष करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वाऽस्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥'

यह सुन श्रीहीरविजयी पण्डित ने उनके प्रखर पाण्डित्यको देखकर कहा कि—'भारतीसिद्ध वादिगजकेसरी विद्वद्वर! आपके समान कोई भी विद्वान् नहीं है, फिर अधिक कहाँसे हो सकता है? क्योंकि—

'हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते॥'

यह सुनकर श्रीहर्षका क्रोध शान्त हो गया। राजाने भी 'श्रीहीर' विजयी पण्डितकृत अवसरोचित श्रीहर्ष-स्तुति की श्लाघा करते हुए दोनों विद्वानोंमें परस्पर स्नेहपूर्वक आलिङ्गन कराकर राजभवनमें ले जाकर दोनोंका ही समुचित सत्कार किया और श्रीहर्षको एक लक्ष सुवर्णमुद्राएँ दीं।

नैषधचरितकी रचना—

इस प्रकार पिताके विजयीका मानमर्दन कर श्रीहर्षने वहीं राजसभाके सदस्य होकर रहते हुए राजाज्ञासे इस 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यकी रचना कर राजाको दिखलाया। इसे देख प्रसन्न राजाने कहा कि—'कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको सरस्वती के हाथमें दीजिये। वहाँपर साक्षात् निवास करती हुई सरस्वती हाथमें दिये हुए दोषरहित ग्रन्थका शिरःकम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती है और इसके विपरीत दोषयुक्त ग्रन्थको कूड़े-कतवारके समान फेंक देती है। इस प्रकार सरस्वतीसे अभिनन्दित ग्रन्थका वहाँके राजासे प्रमाणपत्र लाइये।' ऐसा कहकर और बैल-ऊँट आदिपर समुचितपाथेय तथा धन लदवाकर उन्होंने श्रीहर्षको कश्मीर भेजा।

कश्मीरमें नैषधचरितका परीक्षण—

वर्तमान समयके समान रेल आदि साधनोंका अभाव होनेसे बहुत दिनोंके बाद श्रीहर्षने कश्मीर पहुँचकर वहाँके राजपण्डितोंको अपना महाकाव्य दिखलाया तथा इसे सरस्वतीके हाथमें रखा। सरस्वतीने पुस्तकको दूर फेंक दिया। यह देख श्रीहर्षने सरस्वती-से आक्षेपपूर्वक कहा कि 'मेरी पुस्तकको साधारण पुस्तकके समान दूषित समझकर तुमने क्यों अनादृत किया? इसमें कौन-सा दोष है?' श्रीहर्षकी आक्षेपपूर्ण बात सुन सरस्वती देवी ने कहा कि—'तुमने अपने इस ग्रन्थमें—

'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥'

इस पद्यके द्वारा मुझे विष्णुकी पत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरे कन्यात्वका लोप किया है। इसी दोषके कारण मैंने पुस्तकको फेंक दिया है, क्योंकि—अग्नि, धूर्त, रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्ता; ये पाँच योगियोंको भी उद्विग्न कर देते हैं[1]।'

यह सुन महापुराणोंके विशेषज्ञ श्रीहर्षने हँसते हुए कहा—'दूसरे जन्ममें तुमने विष्णु-भगवान्‌को पतिरूपमें स्वीकार नहीं किया था क्या? लोकमें भी तुम्हें लोग 'विष्णुपत्नी' नहीं कहते हैं क्या? तब मेरे सत्य कहनेपर व्यर्थ ही क्रुद्ध होकर तुम मेरी पुस्तकको क्यों सदोष कह रही हो?'। श्रीहर्षोक्त उक्त वचनको सुनकर सरस्वतीने पुस्तकको पुनः हाथमें लेकर उसकी प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीहर्षने वहाँके राजसभासद पण्डितोंको सरस्वत्यनु-मोदित उक्त पुस्तक देकर कहा कि—'सरस्वती देवीने आपलोगोंके समक्ष इस पुस्तककी प्रशंसा की है, अत एव आपलोग यहाँके राजा 'माधवदेव'को यह पुस्तक दिखलाकर 'यह रचना शुद्ध है' ऐसा राजलेख 'काशिराज जयन्तचन्द्र' के लिए मुझे दें।' परन्तु पण्डितोंमें दूसरे किसी नये पण्डितके प्रति स्वभावसे ही असूया होती है, इस लोकनियमसे आबद्ध उन

१. 'पावको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः॥' इति।

राजसभापण्डितोंने श्रीहर्षकृत सरस्वत्यभिनन्दित पुस्तक कश्मीरनरेश 'माधवदेव'को नहीं दिखलायी और परिणामस्वरूप राजा जयन्तचन्द्रके लिए पुस्तकके शुद्ध होनेका राजमुद्रा-मुद्रित लेख भी श्रीहर्षको नहीं प्राप्त हुआ। क्रमशः दिन, सप्ताह, पक्ष और मास व्यतीत होते गये। राजा जयन्तचन्द्रसे प्राप्त समस्त धन समाप्त हो चुका, वाहन, बैल, ऊँट आदि के साथ वर्तन भी श्रीहर्षको वेचने पड़े।

एक समय नदीतटपर पानी भरनेके लिए दो दासियाँ गयीं। संयोगवश उन दोनोंमें 'पहले मैं पानीका घड़ा भरूँगी' इस प्रसङ्गको लेकर परस्पर कहासुनी, गाली-गलौज होते-होते मारपीट हो गयी, फलतः दोनोंके शिर तक फूट गये। अपने-अपने पक्षकी पुष्टि करती हुई दोनों दासियोंने राजदरबारमें जाकर मुकदमा किया और राजाके प्रत्यक्षद्रष्टा साक्षी माँगनेपर दोनोंने कहा कि एक विदेशी ब्राह्मण नदीतटपर बैठा था, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वहाँ नहीं था। राजाज्ञासे राजपुरुष नदीतटपर जाकर ब्राह्मणको साथ ले आये। वस्तुतः ये ब्राह्मणदेव अन्य कोई नहीं, महाकवि श्रीहर्ष ही थे। दोनों दासियोंके विवादके विषयमें पूछनेपर श्रीहर्षने कहा—'राजन्! परदेशी होनेके कारण मैं इनके किसी शब्दका भी अर्थ नहीं समझ सका। हाँ, इन दोनोंने जो कुछ एक दूसरेके प्रति कहा या किया, उसे मैं आनुपूर्वी कह सकता हूँ।' ऐसा कहकर श्रीहर्षने राजाज्ञा होनेपर दोनों दासियोंकी परस्परोक्त उक्ति-प्रत्युक्तिको अनुपूर्वशः यथावत् कह दिया। श्रीहर्षकी धारणा-शक्तिसे आश्चर्यचकित राजाने दासीद्वयके विवादका निर्णय कर उन्हें विदा किया तथा साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्रीहर्षसे उनका परिचय पूछा। उन्होंने काशीसे यात्रा करनेसे लेकर अब तकके सम्पूर्ण वृत्तान्तको राजासे कह सुनाया। यह सुन अपनी सभाके पण्डितोंकी श्रीहर्षके प्रति की गयी असूयासे अत्यन्त दुःखित राजाने सभापण्डितोंको बुलाकर उन्हें धिक्कारते हुए कहा—'मूर्खो! ऐसे परमविद्वान्के साथ स्नेह करनेके बदले असूया करनेवाले तुमलोगोंको धिक्कार है। अब तुम लोग अपने-अपने घरपर ले जाकर इस महात्माका सत्कार करो।' यह सुन श्रीहर्षने नैषधचरितकी प्रशस्तिमें पठित निम्नलिखित श्लोकको पढ़ा—

'यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः॥' (प्रशस्ति १)

यह सुनकर अपने निन्दित कर्मसे अतिशय लज्जित राजसभापण्डितोंने अपने-अपने घरपर श्रीहर्षको लेजाकर आदर-सत्कारसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर कश्मीराधीश 'माधव-देव'ने भी उनका सत्कार कर ग्रन्थकी शुद्धताका राजमुद्राप्रमाणित लेख देकर उन्हें विदा किया। उसे लेकर वे काशी लौटे तथा राजा जयन्तचन्द्रको लेख दिया और तबसे इस 'नैषधचरित'का प्रचार हुआ।

श्रीहर्ष का वैराग्य एवं संन्यास ग्रहण—

तदनन्तर काशीराज जयन्तचन्द्रके 'पद्माकर' नामक प्रधान मन्त्रीने परमविलासवती एवं राजनीतिनिपुणा 'सूहवदेवी' नामकी विधवा शालापति पत्नीको कुमारपालके घर लाकर सोमनाथकी यात्रा कर जयन्तचन्द्रकी भोगपत्नी बनवाया। वह अपनेको लोकमें 'कलाभारती' प्रसिद्ध करती थी और श्रीहर्ष भी 'नरभारती' कहे जाते थे। यह उस मत्सरिणीको असह्य था। एक समय उसने आदरके साथ श्रीहर्षको बुलाकर 'आप कौन हैं?' ऐसा प्रश्न किया। उसके प्रत्युत्तरमें श्रीहर्षके अपनेको 'कलासर्वज्ञ' कहने पर उसने कहा कि 'जूता पहनाओ'। उसका अभिप्राय यह था कि यदि ये ब्राह्मण होनेके कारण 'मैं नहीं जानता हूँ' कहते हैं तब ये 'कलासर्वज्ञ' नहीं सिद्ध होते। श्रीहर्षने उसकी बातको स्वीकार कर वृक्षोंके वल्कल आदिसे जूता बनाकर उसे पहना तो दिया, किन्तु राजासे उसकी इस कुचेष्टाको कहकर अत्यन्त खिन्न हो गङ्गातटपर जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

जयन्तचन्द्रका इतिवृत्त—

इसी बीच राजाकी अभिषिक्त देवीमें एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेघचन्द्र' था और 'सूहवदेवी'से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो मेधावी तो था, परन्तु अत्यन्त दुर्विनीत था। दोनोंके युवावस्था प्राप्त करने पर राजाने अपने 'विद्याधर' नामक मन्त्रीसे पूछा कि 'किसे राज्य देना चाहिये?' विद्याधरने कुलीन एवं सत्पुत्र मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए अपनी सम्मति दी और 'सूहवदेवी'के दुर्विनीत पुत्रको राज्य देनेके इच्छुक राजाको यथाकथञ्चित् मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए राजी कर लिया। यह देख कर क्रुद्ध हुई सूहवदेवीने अपने विश्वासपात्र प्रधान दूतोंको भेजकर तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण'को काशीपर चढ़ाई करनेके लिए तैयार किया। 'प्रत्येक पड़ावपर सवालाख स्वर्णमुद्रा व्यय करता हुआ वह काशीपर चढ़ाई करनेके लिए चल पड़ा है' यह गुप्तचरोंसे ज्ञात कर मन्त्री विद्याधरने 'सूहवदेवी'कृत विरोधको राजासे निवेदन किया, किन्तु राजाने 'वह मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करेगी' कहकर उसे फटकार दिया।

राजाकी मूर्खतासे राजभक्त मन्त्री चिन्तित हो विधिको प्रतिकूल मानकर सोचने लगा कि राज्यभ्रंश होनेके पहले मर जाना अच्छा है। यह सोचकर उसने राजासे कहा—'प्रभो! यदि आज्ञा हो तो मैं गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दूँ।' अपने प्रत्येक काममें उसे कण्टकभूत मानकर राजाने भी सहर्ष आज्ञा दे दी। मन्त्रीने सोचा—हितवचनोंको नहीं सुनना, दुर्नीतिमें प्रवृत्त होना, प्रिय लोगोंमें भी दोष देखना, अपने गुरुजनोंका अपमान करना; ये सब मृत्युके पूर्वरूप राजामें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अत एव इनकी मृत्यु अब आसन्न है। यह सोच सब धातुओंको सुवर्ण बनानेवाले जिस 'पारस' पत्थरके प्रभावसे ८८०० ब्राह्मणोंको प्रतिदिन भोजन देनेके कारण 'लघुयुधिष्ठिर' उपाधिसे वह मन्त्री लोकप्रसिद्ध था, चिन्तामणिविनायकके प्रसादसे प्राप्त उस पत्थरको लेकर गङ्गाजलमें

प्रवेशकर उसने ब्राह्मणको सङ्कल्पपूर्वक दान दे दिया, किन्तु हतभाग्य उस ब्राह्मणने 'तुम्हें धिक्कार है, जो मुझ ब्राह्मणको गङ्गातटपर बुलाकर दानमें पत्थर दे रहे हो' ऐसा कहकर उस अमूल्य पत्थरको गङ्गाजीमें फेंक दिया और घर चला गया। इधर मन्त्रीने गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दिया। उधर तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण' ने काशी पहुँचकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया एवं यवनोंने नगरीको खूब लूटा। राजा मारा गया या उसका क्या हुआ, कुछ पता नहीं चला। यह ईसवीय सन् १३४८ में राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोषमें 'श्रीहर्ष-विद्याधरजयन्तचन्द्रप्रबन्ध'से ज्ञात होता है।

जयन्तचन्द्रका समय—

प्राचीन लेखमालाके २३ वें लेखके संवत् १२४३ (ईसवीय सन् ११८३) आषाढ़ शुक्ल सप्तमी रविवारको लिखित दानपत्रसे जयन्तचन्द्रका वंशक्रम इस प्रकार ज्ञात होता है—

यशोविग्रह
|
महीचन्द्र
|
श्रीचन्द्रदेव
|
मदनपाल
|
गोविन्दचन्द्र
|
विजयचन्द्र
|
जयन्तचन्द्र

इनमें यशोविग्रहके पौत्र 'श्रीचन्द्रदेव' ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) तथा काशीपर विजय प्राप्त की थी, तथा २२ वें लेखमें जयन्तचन्द्रके यौवराज्यदानपात्रमें संवत् १२२५ (ईसवीय सन् ११६९) लिखा है।

इस प्रकार जयन्तचन्द्रके राज्यकालके अनुसार महाकवि श्रीहर्षका समय भी बारहवीं शताब्दी ही निश्चित होता है। अत एव जयन्तचन्द्रके पिता विजयचन्द्रके वर्णनस्वरूप ग्रन्थकी चर्चा श्रीहर्ष कविने अपने नैषधचरितमें की है[1]। श्रीहर्षके समयके विषयमें विविध मतोंमें उपस्थित विसंवादोंका प्रदर्शन कर उनका खण्डन करते हुए डाक्टर बूलर साहबके उस व्याख्यानसे भी इसीका समर्थन होता है, जो 'रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई ब्रांच' (Royal Asiatic Society, Bombay Branch) नामकी विद्वत्सभाद्वारा सन् १८७५ ई० में प्रकाशित प्रबोधनग्रन्थ मुद्रित हुआ है।

---

१. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः।' (५।१३८ का उत्तरार्द्ध)

नल-दमयन्तीकी मूलकथा

महाभारतके वनपर्वमें नल-दमयन्तीकी कथा आयी है। उसके अनुसार भी इन्द्रादि चारों देवोंने दमयन्तीके पास नलको दूत बनाकर भेजा था। निष्कपट भावसे कार्य करनेपर भी असफल होकर उनके लौटनेपर वे नलरूप धारण कर स्वयंवर में गये और दमयन्तीकी स्तुतिद्वारा प्रसन्न होकर नलके लिए आठ[1] वर दिये। स्वर्ग को जाते समय कलिको देवोंने बहुत समझाया, परन्तु वह नलको राज्यभ्रष्ट करनेके लिए द्वापरको सहायक बनानेकी शर्त कर[2] निषध देशमें गया। बारह वर्षके बाद नलको मूत्रत्यागके बाद आचमन कर बिना पैर धोये ही सन्ध्योपासन करते देख (उन्हें अशुचि देख) अवसरका लाभ उठाकर वह उनमें प्रवेश कर गया[3]। द्यूतमें अपने भाई पुष्करसे पराजित होकर वनमें जाते हुए नलने दमयन्तीका त्याग कर दिया। और चार वर्षके बाद पुनः दोनोंका समागम हुआ[4]। आदि। इस कथामें केवल इतिवृत्तमात्रका वर्णन है, किन्तु नैषधचरितमें श्रीहर्षने उस कथाभागका बहुत ही रोचक एवं सरस शैलीमें इस प्रकार वर्णन किया है कि वह सजीव हो गया है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं उस कथाभागको स्वरचित कल्पनाका पुट देकर विशेषतया सजाकर उसमें चार चांद लगा दिये हैं, जिनमें-से नलके द्वारा पकड़े गये हंसका करुण क्रन्दन आदि मुख्य हैं।

'सोमदेवभट्ट' विरचित 'कथासरित्सागर' के अनुसार सबसे पहले हंसको दमयन्ती ने अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा तब उसने कहा कि तुम मुझे छोड़ दो, मैं कामवत् सुन्दर

---

१. प्रहृष्टमनसस्तेऽपि नलायाष्टौ वरान् ददुः। प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे शक्रो गतिमनुत्तमाम् ॥
अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः। लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ॥
यमस्त्वन्नरसं प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम्। अपाम्पतिरपाम्भावं यत्र वाञ्छति नैषधः॥
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे ते मिथुनं ददुः। वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६१७-६२०)

२. ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत्। संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ! ॥
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते। त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि
एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह। आजगाम कलिस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६३१-६३३)

३. स नित्यमन्तरं प्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम्। अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥
कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्त नैषधः। अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १४।६३३-६३५)

४. स चतुर्थे ततो वर्षे सङ्गम्य सह भार्यया। सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम् ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १६।८३३)

विषधराज नलसे तुम्हारे सौन्दर्यका वर्णन कर तुम्हारा पति होनेके लिए निवेदन करूंगा। यह सुन दमयन्तीके हाथसे मुक्ति प्राप्त कर हंस निषधदेशमें जाकर सरोवरपर स्थित नलके पास पहुँचा। वहांपर भी नलने उसे अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा, तब उस हंसने कहा कि पतिरूपमें तुम्हें चाहनेवाली भीमकुमारी परमसुन्दरी दमयन्तीका सन्देश लेकर मैं आया हूँ, अतः तुम मुझे छोड़ दो। हर्षप्रद यह हंसोक्त वचन सुनकर नलसे मुक्त हंस पुनः दमयन्तीके पास जाकर नलसे दी गई स्वीकृतिका सुसंवाद कहकर अभिमत स्थानको चला गया और दमयन्तीने माताके द्वारा यह समाचार पिताको सुनाया। तदनुसार पिता भीमने भी स्वयंवरके निमित्त राजाओंके पास निमन्त्रणपत्र भेजे। नारदसे दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य तथा स्वयंवरका समाचार पाकर इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम तथा वायु, ये पांच लोकपाल नलके समीप गये और अदृश्य होनेकी शक्ति देकर उनको दूत बनाकर दमयन्तीके पास भेजा। नलने भी दमयन्तीके पास जाकर देवोंका सन्देश कहते हुए उक्त पांच देवोंमें-से किसी एक देवको पतिरूपमें वरण करनेके लिए कहा, किन्तु दमयन्तीका नलको ही वरण करनेका निर्णय मालूम कर नलने अपना परिचय दिया और उन पांच देवोंके पास वापस आकर यथातथा सब बातोंको कह दिया। उनके इस वञ्चनारहित सत्यवचनसे प्रसन्न देवोंने अपनेको नलका वशवर्ती होनेका वरदान दिया। तदनन्तर नलके निषध देशको वापस लौटनेपर वे इन्द्रादि पाँचों लोकपाल नलका रूप धारण कर स्वयंवरमें पहुँचे। इधर अपने भाईसे स्वयंवरागत राजाओं का परिचय पाकर क्रमशः उन्हें छोड़ती हुई दमयन्तीने आगे जाकर एक साथ बैठे हुए छः नलोंको देखा तथा उन देवताओंको स्तुतिसे प्रसन्न कर नलके गलेमें वरणमाला पहना दी।

दमयन्तीके साथ विधिवत् विवाह संस्कार सम्पन्न होनेपर नल वहांपर एक सप्ताह ठहरनेके बाद दमयन्तीको साथ लेकर अपने देशको लौटे। इधर दमयन्ती-स्वयंवरमें द्वापरके साथ आता हुआ कलि देवोंसे नलके दमयन्तीद्वारा वरे जानेका समाचार सुन उन्हें परस्पर वियुक्त करनेकी प्रतिज्ञा कर नलकी राजधानीमें पहुँचा और नलके छिद्रान्वेषण करता हुआ रहने लगा।

बारह वर्षके उपरान्त मद्यपान करनेके कारण विना सन्ध्योपासन तथा पादप्रक्षालन किये ही सोए हुए नलके शरीरमें कलिने प्रवेश किया, जिसके प्रभावसे नल दुराचारमें प्रवृत्त रहने लगे। इत्यादि।[1]

इस प्रकार महाभारत तथा कथासरित्सागरके कथांशके साथ प्रकृत नैषधचरितके कथांशका सामञ्जस्य करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्षने महाभारतके आधारपर ही इस महाकाव्यकी रचना की है।

---

१. कथासरित्सागरके नवम 'अलङ्कारवती' लम्बकके छठे तरङ्गमें श्लोक २३७–४१६।

श्रीहर्षका पाण्डित्य

पहले लिखा जा चुका है कि श्रीहर्षने खण्डनखण्डखाद्य आदि अपने ग्रन्थोंकी रचना की। उनमेंसे एकमात्र 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ ही इनके पाण्डित्यप्राचुर्य-प्रदर्शनके लिए पर्याप्त है। इसमें ग्रन्थकारने अपने प्रखर पाण्डित्यसे अनेकविध तर्कों तथा प्रयुक्तियोंके द्वारा बड़े उत्तम ढंगसे अद्वैत मतका प्रतिपादन किया है, जिसको देखकर विद्वानोंको इनके पाण्डित्यप्राचुर्यकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अपने इस अद्वैतकी झलक श्रीहर्षने नैषधचरितमें भी अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः (१३।६५) इत्यादि वचनोंद्वारा प्रदर्शित की है।

षष्ठ सर्गको तो स्वयं श्रीहर्षने ही 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थका सहोदर कहा है। यथा—

'षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः।' (६।११३ का उत्तरार्द्ध)

न्यायशास्त्रके मुख्याचार्य गोतमको भी इन्होंने नैषधचरितमें—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेत्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥' (१७।७४)

कहकर आड़े हाथों लिया है। सप्तदश सर्गमें चार्वाक मतका अत्यन्त कटुसत्य प्रामाणिक एवं विस्तृत समीक्षण श्रीहर्षकी दार्शनिकताका अकाट्य प्रमाण है। वैशेषिक दर्शनका नामान्तर 'उलूक दर्शन' भी है, इसे श्रीहर्षने बड़ी युक्तिसे प्रतिपादित किया है—

'ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥' (२२।३५)

अन्य कवियोंने प्रायः अपनी विद्वत्ताके प्रदर्शनार्थ ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदिका वर्णन अपनी रचनाओं में अप्रासङ्गिक या अत्यधिक रूपमें किया है, किन्तु श्रीहर्षने ऐसा वर्णन कहीं नहीं किया है। जहां कहीं भी इन्होंने मूलकथासे पृथक् स्वतन्त्र कथाकी कल्पना की है, वह वहांपर मशीनके पुर्जेके समान ठीक-ठीक बैठ जाती है और ऐसा आभास होता है कि इसके बिना रचना अधूरी एवं बेकार थी। उदाहरणार्थ नलके पास हंस पहले नलको काटकर (१।१२५) अनन्तर कुछ फटकारकर (१।१३०–१३३) भी अपनेको छुड़ानेके लिए प्रयत्न करता है, किन्तु असफल होकर करुण-क्रन्दन (१।१३५–१४२) करने लगता है और दयार्द्र नलसे मुक्ति पाकर वहीं वह अपनी भूल स्वीकार करता हुआ (२।८–९) अप्रिय भाषणजन्यदोष को प्रत्युपकार द्वारा दूर करने का वचन देता है तथा उसे दैवप्रतिपादित माननेके लिए दीनतापूर्वक विविध प्रकारसे अनुरोध करता है (२।१०।१५)। इसके प्रतिकूल जब वही हंस दमयन्तीके पास पहुँचता है तो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अनेक प्रकारसे आत्म-श्लाघा करता हुआ नलके प्रति दमयन्ती को

आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे बार-बार उनका प्रसङ्ग लाकर उनकी अत्यन्त स्तुति इस प्रकार करता है कि दमयन्तीको यह लेशमात्र भी आभास न होने पावे कि इसे नलने भेजा है तथा इस चातुर्यपूर्ण रहस्यको वह तब तक छिपा रखता है, जब तक दमयन्तीके हृदयको अच्छी तरह ठोंक-ठोंककर नलके प्रति आकृष्ट होनेका दृढ़ निश्चय नहीं कर लेता है। यहाँपर हंसके चातुर्यका दिग्दर्शनमात्र करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। देखिये—हंस किस चातुर्यसे श्लेष द्वारा नलके प्रति दमयन्तीको आकृष्ट करता है। वह कहता है कि—'मुझ स्वर्गीय हंसको पकड़नेके लिए 'विरलोदय नर'के एकमात्र स्वर्गोग्यभाग्यके अतिरिक्त कोई जाल आदि समर्थ नहीं हो सकता'।

'बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥' (३।२०)

यहाँपर उसने 'विरलोदय, नर' इन दो शब्दोंसे नलका स्पष्ट सङ्केत किया है। आगे वह दमयन्तीके 'का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा।' (३।५९) अपने मनोरथगत नलकी ओर श्लेषद्वारा सङ्केत करने पर उसके नलविषयक अर्थको समझ कर भी स्पष्ट करनेके लिए कहता है—चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान आप जिसे प्राप्त करनेके लिए अधिक आदरिणी हों, उसे क्या मैं उस प्रकार सुननेका अधिकारी नहीं हूँ, जिस प्रकार वेदवचनको सुननेका अधिकारी शूद्र नहीं होता (३।६२)। आगे उसके मनोरथको पूरा करनेमें अपनेको सर्वथा समर्थ बतलाता हुआ वहीं हंस विश्वकी किसी भी वस्तुको यहाँ तक कि लङ्काको भी देनेमें अपनेको समर्थ कहता है, जिसका उत्तर कुलीना दमयन्ती स्पष्टरूपसे न देकर श्लेषद्वारा ही नलको पानेकी इच्छा पुनः प्रकट करती है—

'इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥' (३।६७)

यहाँपर कुलाङ्गनोचित शीलका पूर्णरूपेण पालन करते हुए श्रीहर्षने भारतीय संस्कृतिके परमोच्चादर्शको स्थापित किया है। इसी कारण अन्तमें विवश होकर हंसको ही 'नलके साथ तुम विवाह करना चाहती हो' कहना पड़ा है (३।७९)। और आगे चलकर वह पुनः पुनः नलके लिये दमयन्तीसे दृढ़ निश्चय कराकर ही 'वे भी तुम्हें चाहते हैं और उन्होंने ही तुम्हारे पास मुझे भेजा है' इत्यादि कहते हुए अपना वास्तविक रूप दमयन्तीके समक्ष व्यक्त करता है।

सभी लोग कुश तथा जल लेकर सङ्कल्पपूर्वक दान देते तथा लेते देखे जाते हैं। देखिये महाकवि श्रीहर्षने दानवीर नलके मुखसे उक्त प्रकरणको लेकर कितनी सूक्ष्मदर्शिताके साथ दानका महत्त्व कहलवाया है। दानके स्वरूप विविध प्रकारसे कहते हुए नल कहते हैं कि—'कुश-जलयुक्त दान करनेका विधान यह सूचित करता है कि याचकके लिए केवल धनमात्र ही नहीं, अपि तु प्राणोंको भी तृणके समान दान कर देना चाहिये।'

'अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम्।
एवमाह कुशवजलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥' (५।८६)

नलने अपने दूतकर्मको आद्यन्त साङ्गोपाङ्ग निभाया है। अपने कार्यमें कुछ विलम्ब होता हुआ देखकर वे बहुत ही खिन्न होते हुए सोचते हैं कि मेरे मार्गको देखनेवाले इन्द्रके नेत्रोंको वज्रने बनाया है। शीघ्र करने योग्य कार्य में भी विलम्ब करनेवाले मुझको धिक्कार है, जिसमें दूसरे के दूतकार्य करनेका साधारण गुण भी नहीं है—

'इयच्चिरस्यावदधन्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्यशनिर्न निर्ममौ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न ॥' (९।२१)

यहाँ पर नलने निष्कपट भावसे अपने दूतकर्मकी सिद्धिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करनेमें लेशमात्र भी कमी नहीं की है और अन्ततक उसकी सफलताके लिए प्रयत्नशील रहे हैं और इनके इसी निष्कपटभावने इन्हें पुण्यश्लोक बनाया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

स्वयंवरमें जिस क्रमसे सब द्वीप तथा राजाओंका वर्णन महाकवि श्रीहर्षने किया है, वह समस्त समुद्र, वृक्ष, देव आदिका विष्णुपुराणके द्वितीय अंशके तृतीय अध्यायमें स्पष्ट वर्णित है। वहाँ पर शाकद्वीपके वर्णन प्रसङ्गमें वहाँके अधिपतिका नाम 'भव्य' कहा गया है और अपनी कृति नैषधचरितमें श्रीहर्षने 'हव्य' को शाकद्वीपका अधिपति कहा है (११।३७) सम्भव है यह नामभेद पाठान्तर आदि किसी कारणसे हो। इस द्वीपवर्णनसे महाकविके पौराणिक ज्ञानकी पुनः परिपुष्टि होती है।

राजाओंके वर्णन-प्रसङ्गमें सरस्वतीमुखसे काशीनरेशका वर्णन कराते हुए महाकविने 'कश्यां मरणान्मुक्तिः' वचनका अत्यन्त उत्तम युक्तिसे समर्थन किया है। आपके मतमें भूभागके किसी तीर्थविशेषमें तपस्या करनेवालोंको स्वर्गप्राप्ति होती है, और यह काशीपुरी पृथ्वीपर नहीं है (किन्तु पौराणिक वचनोंके अनुसार शङ्कर भगवान् के त्रिशूल के ऊपर बसी है) और वहाँपर निवास करना स्वर्ग में निवास करना है, अत एव उस पवित्र तीर्थमें शरीर त्याग करनेवाले प्राणियोंकी स्वर्गसे भी श्रेष्ठ मुक्ति होती है। अन्यथा यदि उन्हें स्वर्ग ही प्राप्त हो तो उनके हर्षका कोई कारण ही नहीं होता, क्योंकि वे तो स्वर्गरूप काशीमें पहलेसे निवास करते ही थे। कविके शब्दोंमें इस प्रसङ्गको देखिये—

'वाराणसी निवसते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ?॥' (११।११६)

नलके पाण्डित्य-प्रदर्शन-प्रसङ्ग में स्थान-स्थान पर श्लेषका वर्णन आ चुका है, किन्तु इन्द्रादि चारो देवोंके साथ नलका तथा नलके साथ इन्द्रादि चारो देवोंका एक साथ वर्णन करके महाकविने जो श्लेपोक्तिचातुर्य का प्रदर्शन किया है, वही उनके पाण्डित्यका निष्कर्ष है। आगे चलकर अन्तमें—

'देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।

नायं नलः खलु तवास्ति महानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥'(१३।३३)

इस एक ही श्लोकसे पञ्चनलोंके वर्णनमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच ही स्वयंवरमें स्वयं पधारकर साक्षात् सरस्वती देवीने यह राजवर्णन किया है।

महाकविने स्वयंवरमें आयी हुई सरस्वती देवीके प्रसङ्गका जो वर्णन (१०।७४–७८) किया है, उसमें उनका बहुश्रुतत्व स्पष्ट प्रतिभासित होता है।

आगे चलकर बारातका वर्णन भी महाकविने सूक्ष्मदर्शनपूर्वक बड़ा रोचक किया है। वर्तमान समयमें भी साधारण कोटिके लोगोंकी बारातमें बारातियोंकी ओरसे जो शान दिखलायी जाती है, बात-बातमें हँसी-मजाक चलता है उससे सभी परिचित हैं, तो फिर परमैश्वर्यशाली नैषधकी बारातमें जिसमें नट, विट, विदूषक आदि हास्योपजीवियोंसे लेकर बड़े-बड़े चतुर राजगण भी सम्मिलित हुए थे, उसमें हास तथा शानशौकत की क्यों कमी होती ? कन्याके पिता भीम बार-बार आप्त राजाओंको यथासमय शुभ मुहूर्तमें शीघ्र कार्य होनेके लिए दूतरूपमें भेजते हैं, किन्तु बारातियोंका मानो उधर ध्यान ही नहीं जाता, वे अपने शानमें मस्त होकर धीरे-धीरे चल रहे हैं, तथा अनेक बार दूतरूपमें भीमप्रेषित आप्त राजाओं तथा उनके सहचारोंसे नलकी सेना बहुत बढ़ गयी। यथा—

'विदर्भराजः क्षितिपाननुक्षणं शुभक्षणासन्नतरत्वसत्वरः।
दिदेश दूतान् पथि यान्यथोत्तरं चमूसमुच्चोपचिकाय सञ्चयः ॥' (१६।५)

जब सामान्य वर्गके भी कन्यापिता आदि बारातियोंके आदर-सत्कार एवं भोजनादिमें यथासम्भव किसी प्रकार की कमी नहीं होने देते, तब भला कुण्डिनपुराधीश राजा भीमके यहाँ नल-जैसे वरके बारातियोंके भोजनादिमें किस वस्तुकी कमी थी तथा ऐसे वर्णनकी उपेक्षा भी महाकवि श्रीहर्षको कैसे सह्य हो सकती थी। बारातियोंको विविध भोज्यपदार्थोंके वर्णन-प्रसङ्गमें कल्पना विचक्षण श्रीहर्ष घी के विषयमें कहते हैं कि—यद्यपि मर्त्यलोकवासियोंने अमृतपान नहीं किया है, तथापि घी अमृतसे अधिक स्वादिष्ठ है ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि अमृतभोजी यज्ञोंमें जले (दूषित) हुए गन्धवाले भी जिस घीकी लालसा करते हैं। यथा—

'यदप्यपीता वसुधालयैः सुधा तदप्यदः स्वादु ततोऽनुमीयते।
अपि क्रतूपघ्नुघदग्धगन्धिने स्पृहां यदस्मै दधते सुधान्धसः ॥' (१६।७१)

वाह ! क्या ही सुन्दर हृदयहारिणी कल्पना है, यहाँ गागरमें सागर ही भर दिया गया है

परिहासप्रियता—

मैं पहले लिख चुका हूँ कि बारातियोंके बात-बातमें परिहासपूर्ण व्यवहार देखे जाते हैं, उसे यहाँपर कविने दमयन्तीके भाई दम अर्थात् नलके छोटे सालेके द्वारा नाना प्रकारसे कराया है। और इतना ही नहीं, राजाओंसे भरी स्वयंवर सभामें भी दमयन्ती-दासियों के द्वारा दमयन्ती-निरस्त राजाओंको लक्ष्यकर कैसा उपहास कराया है, देखिये ! सरस्वतीदेवी स्वयंवरमें आये हुए राजाओंका परिचय दे रही हैं, उसी प्रसङ्ग

जब एक राजा का परिचय दे रही थीं, उसी बीच में दमयन्तीके हृद्गत अभिप्रायको जानने-वाली सखीने सरस्वतीदेवीको पान का बीड़ा देती हुई कहा कि इस राजाका वर्णन करते-करते आपका मुख थक गया होगा, इस बीड़ेसे उसे दूर कर लें अर्थात् जिसे स्वामिनी नहीं चाहती उसका वर्णन करना व्यर्थ है, अतएव पानका बीड़ा चबाने के बहाने उसे समाप्त करें—

'विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगां बभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी।
इमस्त्वसुर्भावमवेत्य भारतीं नयानया वक्त्रपरिश्रमं शमम्॥' (१२।७६)

आगे चलकर बारातियोंके भोजन करनेके पश्चात् मुखशुद्ध्यर्थं वैसी सुपारी दी गयी जो बिच्छूके आकारकी थी अतः उसे लेते ही बारातियों ने बिच्छू समझकर तुरत फेंक दिया और यह देख वहाँपर उपस्थित दमपक्षीय हँस पड़े—

'मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिरवेत्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः॥' (१६।१०९)

बारातियोंके साथ दासियों, सखियों या वाराङ्गनाओं और छोटे साले दमका परिहास करने मात्रसे ही कवि को सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने राजा भीम तकको इधर घसीटा। जब सब बाराती भोजन करके निवृत्त हो मुखशुद्ध्यर्थं सुपारी, पान आदि भी ले चुके, तब उन्हें उपहार देते समय स्वयं राजा भीम भी एक नकली तथा एक असली-दो-दो रत्न अपनी हथेलीपर रखकर बारातियोंसे कहने लगे कि इन दोनों रत्नोंमें-से जो रत्न आपको पसन्द हो, उसे आप लेलें, किन्तु अनभिज्ञताके कारण जब बाराती नकली रत्नको पसन्द करने लगे, तब मधुर स्मित करते हुए वे दोनों ही रत्न बारातियोंको दे दिये—

'अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्विदर्भराट् चारुनितान्तचारुणोः।
स्वयं गृहाणैकमितीरयुदीर्य तद् द्वयं ददौ शेषजिघृक्षवे हसन्॥' (१६।११०)

कविलोग प्रायः अपनी रचनाओंमें शृङ्गाररसकी भरमार कर देते हैं, क्योंकि उनकी उसीमें विशेष भक्ति होती है, किन्तु महाकवि श्रीहर्षने शृङ्गारके वर्णनके साथ अन्य रसोंका भी यथास्थान पर्याप्त वर्णन किया है। करुणरसके हंसकृत क्रन्दन एवं दमयन्तीका विरह वर्णन आदि गणनीय उदाहरण है। देखिये, श्री हर्षने भयानक तथा करुणरसका एक ही साथ कैसा सुन्दर चित्रण किया है—

'एतद्भीतारिनारीगिरिगुहविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रोडाहंसमोहग्रहिलशिशुस्पृशप्रार्थितोसिद्रचन्द्रा।
आक्रन्दद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥' (१२।२८)

विवाहका दिन निश्चित हो जानेपर अपनी सहधर्मिणीसे घरका समस्त वैवाहिक कार्य करनेके लिये कहकर स्वयं बाहरके कार्यका भार ग्रहणकर महलसे इतनी शीघ्रतासे बाहर

आते हैं कि उन्हें विशेष बात करनेका मानो अवसर ही नहीं है। ठीक ही है, विवाह-समयके निर्णीत होनेपर जो महान् उत्तरदायित्वपूर्ण भार कन्यापिताके ऊपर आ जाता है, उसे भुक्तभोगी या सहृदय ही कोई व्यक्ति समझ सकता है। राजाधिराज होते हुए भी भीमको कितनी चिन्ता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कविने बहुत सुन्दर चित्रित किया है। योग्य वर-वरणका सुसमाचार सुनाकर वे सहधर्मिणी महारानीसे कहते हैं कि—'विवाह मङ्गल योग्य स्त्री-सम्बन्धी कार्योंको तुम स्त्रियां करो तथा हमलोग श्रौत-स्मार्त विधियोंको करते हैं' ऐसा कहकर उत्तर या स्वीकृति पाये बिना ही झट बाहर आ जाते हैं—

'सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनान्तु वयं विदध्महे विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः॥'(१५।७)

तथा महारानीके आज्ञानुसार विविध प्रकारके पकवानोंको बनानेमें निपुणतमा पुरन्ध्रियां भी तुरन्त अपने-अपने कार्योंका निपुणतापूर्वक आरम्भ कर देती हैं—

'काचित्तदाऽऽलेपनदानमण्डिता क्रमभ्यहङ्कारमगात्पुरस्कृता।
अलम्भि तुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयाऽऽदरः॥' (१५।१२)

साथ ही राजमहल तथा नगरकी सजावट होने लगती है। कपड़ेको काटकर तथा उन्हें उन्हीं सुगन्धि द्रव्योंसे सुवासितकर बनाये गये असामयिक फूलोंकी मालाओंके आधिक्यसे मार्ग चँदवासे आच्छादित की तरह दीखने लगे। उन कपड़ोंके असामयिक फूलोंकी सुगन्धको और कोई तो क्या, सौरभके पारखी भ्रमर भी नहीं पहचान सके और उन्हें सचा फूल समझकर सौरभलोभसे समन्ततः आकृष्ट होने लगे—

'पथामनीयन्त तथाऽधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमाः।
वितानतामातपनिर्भयास्तदा पटच्छिदाऽकालिकपुष्पजाः स्रजः॥' (१५।१४)

विवाहार्थ वधू-वरका मण्डन तथा विवाहविधिका वर्णन नैषधकारने कुमारसंभवके पार्वती-शङ्करके समान ही किया है, किन्तु नैषधका वर्णन अत्युदात्त विस्तृत एवं सरस है। कुमारसम्भवमें मण्डन के उपरान्त पार्वतीके दर्पण देखने का वर्णन इस प्रकार है—

'क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना॥' (७।२६)

तथा नैषधमें वही वर्णन निम्नाङ्कित है—

'मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले पभौ निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी।
विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः॥
जितस्तदास्येन कलानिधिर्दधे विधुचन्द्रधीसाक्षिकमायकायताम्।
तथापि जिग्ये युगपत्सखीयुगप्रदर्शितादर्शबहुभविष्णुता॥
किमालियुग्मार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेकं बहु चान्यदम्बुजम्।
हिमेषु निर्वाप्य निशासमाधिभिस्तदास्यसालोक्यमितं व्यलोक्यत॥
(१५।५०-५२)

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंके इस वर्णनमें जहां पार्वती स्वयं दर्पण लेकर अपने मण्डन-विधिके बाद अपना सौन्दर्य निरीक्षण कर रही है, वहां दमयन्तीको एक ही नहीं, किन्तु दो-दो सखियां दर्पण दिखला रही हैं। इत्यादि वर्णनश्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिभासित होती है।

आगे और देखिये, कुमारसम्भव तथा नैषधचरितमें पतिके कहनेपर वधुओंके ध्रुवदर्शन करनेका क्रमशः इस प्रकार वर्णन है।

'ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥' (७।८५)
'ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा।
किमस्य न स्यादणिमाऽहिसाधिकस्तथापि तथ्यो महिमागमोदितः ॥' (१५।३८)

आगे चलकर विवाहके अनन्तर पुत्री तथा दामादको विदा कर उन्हें कुछ दूर पहुँचाकर वापस लौटते हुए राजा भीमने दमयन्तीके लिये सामयिक उपदेश दिया है, वह नारीजनोंके लिए अक्षरशः पालनीय है। वे सजलनयन होते हुए दमयन्तीसे कहते हैं कि—'हे पुत्रि! अपना अर्थात् तुम्हारा पुण्य ही तुम्हारा पिता है, सहनशीलता ही आपत्ति-विनाश करनेवाली है, मनस्तुष्टि ही सारी सम्पत्ति है और ये नल ही तुम्हारे सब कुछ हैं, इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ'—

'पिताऽऽत्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि! न कोऽपि तेऽहमित्युदश्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम् ॥' (१६।११७)

विवाहोत्तर पति ही नारीका सर्वस्व है, ऐसा कहकर महाकविने थोड़े शब्दोंमें ही भारतीय संस्कृतिका महत्तम आदर्श प्रदर्शित किया है।

बारातके वापस लौटनेपर कन्यापक्षवालोंने 'बारातियोंका कैसा आदर-सत्कार किया और कौन-सा कार्य किस प्रकार हुआ' यह जाननेके लिए वरपक्षके गृहस्थित स्वजन बहुत उत्कण्ठित रहते हैं, साथ ही बारातियोंको भी अपने घरका समाचार जाननेकी उत्कण्ठा रहती है और जब दोनोंका प्रथम मिलन होता है तब वे परस्परमें एक दूसरेके द्वारा संक्षेपतः समाचार कहते-सुनते आगे बढ़ते हैं। यहाँ भी नलके विवाह करके वापस लौटनेपर राजधानीमें नियुक्त मन्त्री आदि नवदम्पतिकी अगवानी करने आते हैं तो परस्परमें एक दूसरेका समाचार संक्षेपमें सुनते हुए राजधानीमें प्रवेश करते हैं—

'कियदपि कथयन् स्ववृत्तजातं श्रवणकुतूहलचञ्चलेषु तेषु।
कियदपि निजदेशवृत्तमेभ्यः श्रवणपथे स नयन् पुरीं विवेश ॥' (१६।१२४)

नलके राजधानीमें लौट जानेके बाद स्वर्गको वापस जाते हुए इन्द्रादि देवताओंसे कलि आदि का साक्षात्कार होता है, उसमें कलिके सहचरोंका कविने ऐसा वर्णन किया है कि उनका स्वरूप ही पाठकोंके समक्ष दृष्टिगोचर-सा होने लगता है। उनमें लोभका कितना मार्मिक वर्णन है—

'दैन्यस्तन्यमया नित्यमत्याहारामयाविनः।

अज्ञानजनसाकूतपश्या यस्यानुजीविनः ॥' (१६।२५)

आगे चलकर महाकविने कलिके मुखसे तात्कालिक धर्माचरणका वर्णन कराकर जो नग्नस्वरूप उपस्थित किया है, वह भी कम महत्त्वास्पद नहीं है। उसका इन्द्रादिदेवोंने युक्तिपूर्वक बहुत ही उत्तम ढंगसे खण्डन करते हुए धर्मका मण्डन किया है। किन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जितने सबल शब्दोंमें धर्मका खण्डन किया गया है, उतने सबल शब्दोंमें मण्डन नहीं है।

अष्टादश सर्गमें नवदम्पतिकी रतिका वर्णन श्रीहर्षकी कामशास्त्रकी पारदर्शिता प्रकट करता है। उन्नीसवें सर्ग में प्राबोधिक वैतालिकमुखसे किया गया प्रभात वर्णन बहुत ही हृदयहारी है। महाकविने नारीहृदयकी मृदुता तथा पुरुषहृदयकी कठोरताका कितना सुन्दर कल्पना द्वारा चित्रण किया है। वह कहते हैं कि पतिरूप चन्द्रके सर्वथा अस्त होनेके पहले नहीं, किन्तु उसके क्षीणकाय (निष्प्रभ) होनेके पहले ही चन्द्रप्रिया ताराएं तथा रात्रि नष्ट हो गयीं, यह उन परमसती लोगोंके लिये सर्वथा उचित ही है; किन्तु अपनी ऐसी प्रियाओं के नष्ट हो जानेपर भी चन्द्रमा जो मलिनकान्ति होकर स्थित है, शीघ्र मरा नहीं; अतएव ज्ञात होता है कि इसका हृदय पत्थर का है—

'उडुपरिषदः किं नाहंस्त्वं ? निशः किमु नौचिती ?
पतिरिह न यत्ताभ्यां दृष्टो गणेयरुची गणः।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन-
च्छलाव यदनयोर्विच्छेदेऽपि स्मृतं बत न द्रुतम् ॥' (१९।१९)

श्रीहर्षका महावैयाकरणत्व—

श्रीहर्ष महावैयाकरण थे यह उनके तत्तत्स्थलोंमें दिये गये पद्यों एवं पदोंके द्वारा स्पष्ट हो जाता है। एतदर्थ यद्यपि बहुतसे उदाहरण इस ग्रन्थसे उपस्थित किये जा सकते हैं तथापि दिग्दर्शनार्थ निम्नलिखित केवल दो पद्य ही उद्धृत किये जाते हैं—

'क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥' (३।२३)

उक्त पद्यमें हंसमुखसे नलका वर्णन कराते हुए कविने 'अपदं न प्रयुञ्जीत' 'एकवचन-मुत्सर्गतः करिष्यते' इन वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तोंकी ओर सङ्केत किया है—

'स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरिति नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तावत्कृतव्याकरणः पुनः सः ॥' (१०।१३६)

यहाँपर महावैयाकरण श्रीहर्षने इन्द्रादिके नलका रूप धारणकर स्वयंवरमें आनेके प्रसङ्गका वर्णन करते हुए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) का सङ्केत किया है।

बीसवें सर्गके वर्णनसे श्रीहर्षका परमवैष्णव होना भी सिद्ध होता है। उन्होंने नलकृत

पूजाप्रकरणको लेकर जो वर्णन किया है, उसमें विष्णुके वर्णनको ही प्रधानता दी है। उसी प्रसङ्गमें नामकीर्तनका माहात्म्य कहते हुए वर्णन करते हैं कि—हे विष्णो! नरकनाशक आपके नामका जो लोग लीलापूर्वक भी उच्चारण करते हैं, उन्हींसे नरकको डरना उचित है, वे लोग भला नरकसे क्यों डरें—

'लीलयाऽपि तव नाम जना ये गृह्णते नरकनाशकरस्य।
तेभ्य एव नरकैरुचिता भीस्ते तु बिभ्यतु कथं नरकेभ्यः॥' (२१।९७)

आगे चलकर स्मरणमाहात्म्यका वर्णन कर (२१।९९) पुनः रामनाम कीर्तनके महत्त्व का विशेषरूपसे वर्णन करते हैं। वे कहते हैं—'हम जैसे साधारण ज्ञानी लोगों के लिये सब नामोंमें विशेषभाव (समानता) रहनेपर भी हमें आपका 'राम'नाम ही गुणोंका स्थान प्रतीत होता है, यदि ऐसा नहीं था तो तीन जन्मों (बलराम, परशुराम तथा दशरथतनय राम) में अपने 'राम'नामको क्यों स्वीकार किया?'—

'अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम्।
अन्ववन्धि भवतैव तु कस्मादन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि॥' (२१।९०)

अन्तमें भक्तिभरित हृदय नल कहते हैं कि—हे भगवान्! संसार ही आपका स्वरूप है और आपने ही संसारको रचा है, अत एव आपके आश्चर्यजनक ऐश्वर्यको छोटे-से हृदयमें कितना ग्रहण करूँ; क्योंकि दरिद्र व्यक्ति सुमेरु पर्वतको पाकर भी फटे चिथड़ेमें कितना सोना बाँधता है—

'विश्वरूप! कृतविश्व! कियत्ते वैभवाद्भुतमणौ हृदि कुर्वे।
हेम नह्यति कियन्निजचीरे काञ्चनाद्रिमधिगत्य दरिद्रः॥' (२१।१०३)

श्रीहर्ष जिसका वर्णन करने लगते हैं, उसके वर्णनसे मानो थकते ही नहीं। इस इक्कीसवें सर्गमें दमयन्तीके पाससे नलके उठनेसे लेकर द्वारपर चिरकालसे प्रतीक्षा करते हुए राजाओंको दर्शन देते, उनसे उपहार ग्रहण करते हुए स्नानगृहमें जाकर सविधि स्नान करनेके पश्चात् देव-पूजागृहमें उपस्थित होने, वहाँपर स्थापित देवपूजा सामग्रियोंका तथा विधिपूर्वक पञ्चदेव पूजनोपरान्त पुरुषसूक्त पाठ, मन्त्र जप, विष्णुस्तुति आदिका सविस्तर वर्णन किया है। आगे चलकर सन्ध्याकालके आसन्न होनेपर चक्रवाकवधूके आसन्न भावी विरहसे दयार्द्र प्रियतमा दमयन्तीके कहनेपर सायं सन्ध्योपासनसे निवृत्त हो क्रमशः सायङ्काल, अन्धकार एवं चन्द्रमाका वर्णन स्वयं करते हैं तथा दमयन्तीसे भी चन्द्र वर्णन करानेके अनन्तर पुनः स्वयं चन्द्रवर्णन करने लगते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि महाकवि श्रीहर्षका कल्पनाकोष बहुत विशाल एवं क्षयरहित है। जैसा मैंने ऊपर कहा है कि ये एक ही पदार्थका वर्णन बार-बार करके भी थकते नहीं, किन्तु कहीं भी ऐसे बारबार वर्णनोंके प्रसङ्गमें किसी भी कल्पनाको ये दुहराते नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर अभिनव कल्पना मात्राओंसे उसे अधिकाधिक सजाते ही जाते हैं। उदाहरणार्थ अनेक स्थलोंमें दमयन्तीके

वर्णनका प्रसङ्ग आया है, किन्तु पाठकको समस्त वर्णन सर्वथा नूतन एवं महत्त्वपूर्ण ही प्रतीत होता है। महाकवि द्वारा स्थान-स्थानपर 'बहुल, 'अमा, पञ्चास्य, द्विजराज' आदि शब्दों का नया-नया अर्थ करना उनकी परिष्कृत बुद्धिका विशद दिग्दर्शन है।[1]

रसादिनिरूपण—

इस नैषधचरितमें प्रधानतया शृङ्गाररसका तथा गौणतया अन्यरसों का वर्णन है। शृङ्गाररसमें भी विप्रलम्भ शृङ्गार तथा सम्भोग शृङ्गार–दोनों ही का पर्याप्त मात्रामें वर्णन किया गया है। पाञ्चाल्यादि रीतियोंमें-से इस ग्रन्थमें वैदर्भीरीतिका प्राधान्य है। इस बात का महाकवि हर्षने स्वयं स्पष्ट सङ्केत किया है—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥' (३।११६)

'गुणानामास्थानीं नृपतिलक ! नारीति विदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
जवित्री वैदर्भीमधिकमधिकष्टं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥' (१४।८८)

अलङ्कारोंमें श्लेष यथा अनुप्रासालंकारों की सर्वत्र भारमार है, इनके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, उपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि अलङ्कार भी विविध स्थलोंमें मिलते हैं। अतिशयोक्ति वर्णनमें तो श्रीहर्षने कमाल कर दिया है। कामपीडिता विरहिणी दमयन्तीके विरहावस्थाका वर्णन करते श्रीहर्ष कहते हैं कि—कामाग्निसे दीपित्त दमयन्तीने बहुत-से ताजे कमलों को हृदयपर रखने के लिये पुनः पुनः ग्रहण किया, किन्तु हृदय तक पहुंचनेके पूर्व ही उष्णतम श्वाससे मर्मर (अधसुखे) हुए उनको आधे मार्गसे ही वापस फेंक दिया—

'स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्द्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥' (४।२९)

नल इन्द्रादिके दूत बनकर भीमकन्याके अन्तःपुरमें अलक्षित हो पहुँच गये हैं। वहाँ पर नलकी छायाको मणिकुट्टिमादिमें देखकर दो सखियां दोनों ओर से बांह फैलाई गई उन्हें पकड़नेके लिए आती हैं, किन्तु वे उन्हें पकड़ नहीं पा रही हैं क्योंकि उन दोनोंके स्तन

---

१. 'विरहिभिर्बहु मानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा कृता ॥'
'मोहाय देवाप्सरसां विमुक्तास्तराः शराः पुष्पशरेण शङ्के।
पञ्चास्यवत्पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्चशब्दः ॥'
'सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय वधाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतिः ॥'
(क्रमशः ४।६७, २२।१९, ४।७२)

इतने उन्नत-उन्नत हैं कि दोनोंके स्तन परस्परमें सट जाते हैं और अलक्षित नल उनके बीचमें आजाते हैं। इस प्रकार उनके शरीरस्पर्शका अनुभवकर वे आत्मनिन्दा करते हैं और वे दोनों पुरुषशरीरके स्पर्श होनेसे रोमाञ्चित हो जाती हैं—

'मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्त्तुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम्।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते॥' (६।२१)

उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, वैतालीय, रथोद्धता, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा आदि १९ छन्दोंमें इस ग्रन्थकी रचना की गयी है। श्रीहर्षने इस महाकाव्यमें नलके चरितका पूर्णतः वर्णन नहीं किया है, अत एव कतिपय विद्वानोंका मत है कि महाकाव्यको प्रायः शतपरिमित सर्गोंमें ग्रन्थकारने पूरा किया होगा, किन्तु अद्यावधि इस महाकाव्यमें वर्णित कथाभागके आगे श्रीहर्षकृत कोई कथाभाग नलका उपलब्ध नहीं हो सका है, अत एव नारायण भट्टके इस कथन को सत्य मानना पड़ता है कि महाभारतादिमें वर्णित नलके अग्रिम चरित नीरस एवं नायकके उदयाभाव वर्णन करनेसे रसभङ्गकारक था, अतएव सहृदयाह्लादोत्पादन ही काव्यका मुख्य उद्देश्य होनेसे महाकवि श्रीहर्षने इस महाकाव्यमें उनके शेष चरितका वर्णन नहीं किया है।[1]

श्रीहर्षके निवासादिके सम्बन्धमें विविध मत—

कतिपय विद्वान् श्रीहर्षको कन्नौजके अधीश्वर जयन्तचन्द्रके राजसभापण्डित होनेसे कन्नौजका निवासी मानते हैं। कन्नौज (कान्यकुब्ज) के राजाका आश्रित होना श्रीहर्षने स्वयं स्पष्ट कहा है—

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥' (प्रशस्ति ४)

तथा कुछ विद्वान् गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति तथा नवसाहसाङ्कचरितके इनकी रचना होने एवं नैषधचरित के वर्णनके आधारसे इन्हें वङ्गदेशज मानते हैं। तथा कुछ विद्वान् श्रीहर्षकी 'काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महाकाव्ये······(१६।१३०)' उक्तिके आधारपर इन्हें काश्मीरी मानते हैं; किन्तु राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोशके पूर्वोद्धृत वचनके आधार पर इनका काश्मीरी होना सिद्ध नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा गया है 'कान्यकुब्जाधीश्वर जयन्तचन्द्रके सभापण्डित श्रीहर्षने

१. 'आनन्दपदेन तुष्ट्येऽस्तु इत्याशिषा च ग्रन्थसमाप्तिं द्योतयति। महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसत्वान्नायकानुदयवर्णनेन रसभङ्गसद्भावाच्च काव्यस्य च सहृदयाह्लादनफलत्वाच्चात्रोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितमित्यादि ज्ञातव्यम्।' (२२।१४८ प्रकाशव्याख्या)

राजाकी आज्ञासे नैषधचरितकी रचना की और उनके आदेशसे ही कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको वहां सरस्वती देवीके हाथमें रखकर उसके अभिनन्दन करने पर वहांके तात्कालिक राजा माधवदेव से ग्रन्थका सरस्वत्यभिनन्दित होनेका राजमुद्राङ्कित लेख प्राप्त कर काशी लौटे और उक्त राजमुद्राङ्कित लेख राजा जयन्तचन्द्रको दिया तबसे यह महाकाव्य लोकप्रसिद्ध हुआ'। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि श्रीहर्ष २२ सर्गान्त इस महाकाव्यको लिखनेके उपरान्त यदि कश्मीर गये तो 'कश्मीरैर्महिते……(१६।१३०)' यह वचन मध्यमें किस प्रकार आया ? अतएव ज्ञात होता है कि कश्मीरसे ग्रन्थकी प्रामाणिकता सिद्ध होनेके उपरान्त श्रीहर्षने सर्गके अन्तमें 'श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटा…… सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥' १-१ श्लोक ग्रन्थमें जोड़ दिया है। वास्तविकता क्या है ? सम्भव है भावी इतिहासकार इसका अनुसन्धानकर जनताके समक्ष उपस्थित करेंगे।

नैषधचरितकी टीकाएँ—

म० म० पं० शिवदत्तशर्मा महोदयने नैषधचरितकी प्रस्तावनामें इसके निम्नलिखित २३ टीकाकारोंके नाम लिखे हैं—१ आनन्दराजानक, २ ईशानदेव, ३ उदयनाचार्य, ४ गोपीनाथ, ५ चाण्डू पण्डित, ६ चारित्रवर्धन, ७ जिनराज, ८ नरहरि (या—नरसिंह), ९ नारायणभट्ट, १० भगीरथ, ११ भरतमल्लिक (या—भरतसेन), १२ भवदत्त, १३ मथुरानाथ, १४ म० म० मल्लिनाथ, १५ महादेव विद्यावागीश, १६ रामचन्द्रशेष, १७ वंशीवदन शर्मा. १८ विद्याधर, १९ विद्यारण्य योगी, २० विश्वेश्वराचार्य, २१ श्रीदत्त, २२ श्रीनाथ और २३ सदानन्द। उक्त शर्माजी ने इन टीकाकारोंके रचित ग्रन्थों तथा टीकाओंके नाम भी लिखे हैं, उसे जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिये। उन टीकाओंमें म० म० नारायण भट्ट रचित 'नैषधप्रकाश' तथा म० म० मल्लिनाथ रचित 'जीवातु' नामकी टीकाओंको विद्वानोंने सर्वश्रेष्ठ माना है। 'नैषधप्रकाश' टीका हो 'नारायणी' नामान्तरसे भी प्रसिद्ध है। इन दो टीकाओंमें नारायणी टीका अत्यधिक विस्तृत एवं खण्डान्वय मुखसे लिखी गयी है और 'जीवातु' टीका सम्प्रति प्रचलित दण्डान्वय प्रणालीसे लिखी गयी है, इसी लिए सुरभारतीके अन्यतम सेवक एवं प्रायः सहस्र आर्ष संस्कृत ग्रन्थोंके मुद्रक तथा प्रकाशक स्वनामधन्य गोलोकवासी श्रीमान् श्रेष्ठिवर्य श्री हरिदास जी गुप्त के सुपुत्र बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त महोदयने इस नैषधचरित महाकाव्यकी 'जीवातु' टीकाको वर्तमानमें राष्ट्रभाषा हिन्दीका युग होनेसे हिन्दी अनुवादके सहित प्रकाशित करनेका निर्णय किया। किन्तु प्रयत्न करने पर भी अन्तिम सर्गकी 'जीवातु' टीका नहीं उपलब्ध हो सकी, अतएव इस २२ वें सर्गमें 'नैषध-प्रकाश' टीका ही दी गयी है।

'मणिप्रभा' हिन्दी टीका—

उक्त निर्णय करनेके अनुसार, प्रकाशक महोदयने इस महाकाव्यका हिन्दी अनुवाद करनेका भार मुझे सौंपा। कार्याधिक्य रहनेपर भी मैंने उनके सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं

अपने साथ निकट सम्बन्धसे विवश होकर इसे स्वीकार कर लिया। जब यह गुरुतर भार मेरे कन्धोंपर आया, तब मैंने सोचा एवं प्रकाशक महोदयके साथ विमर्श भी किया कि मूल श्लोकोंके साथ म० म० मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीका तो मुद्रित हो ही रही है, अत एव यदि 'नैषधप्रकाश' (नारायणी) टीकाका आश्रय लेकर हिन्दी अनुवाद किया जाय तो विद्वानों तथा विशेषतः नैषधपिपठिषु छात्रोंको दोनों टीकाओंमें आये हुए विषयोंका ज्ञान हो जायगा और प्रायः प्रत्येक श्लोक, पाद एवं शब्दमें नैषधमें अर्थबाहुल्य है वह भी सर्वसाधारणके समक्ष आकर ग्रन्थगौरव सुरक्षित रहेगा। इसी विचारके आधार पर मैंने 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी टीका लिखना आरम्भ कर दिया। 'नैषधप्रकाश' तथा 'जीवातु' टीकाओंके अनुसार मूल श्लोकोंमें अनेकत्र पाठभेद हैं, अतः मैंने 'जीवातु' टीकाके अनुसार पाठ मानकर ही हिन्दी टीकामें पहले 'जीवातु' के अनुसार तथा बादमें 'नैषध-प्रकाश' के अनुसार विविधार्थोंको लिखा है। जहां पर पाठभेदके कारण सर्वथा अर्थभिन्नताका अवसर आया है वहांपर 'जीवातु' के अनुसार ही पहला अर्थ लिखा गया है और पाठान्तरमें द्वितीय अर्थ। इन अनेक अर्थोंको बार-बार आद्यन्त लिखनेमें ग्रन्थका आकार ड्योढा दूना हो जाता, अत एव पक्षान्तरीय अर्थको कोष्ठकमें लिख दिया गया है और यही कारण है कि कई स्थलोंमें हिन्दी कुछ क्लिष्ट हो गयी है और कथाक्रमको विच्छिन्न करती-सी प्रतीत होती है। इस दोषको दूर करनेके लिए ही प्रायः सभी स्थलोंमें श्लोकोंके मूल अर्थ करनेके उपरान्त [ ] ऐसे कोष्ठकके भीतर पूरे श्लोकका विशद आशय विशुद्ध हिन्दीमें स्पष्टकर दिया गया है और अनेक स्थलोंमें गुरुपरम्परागत अभिप्रायोंको भी लिखकर ग्रन्थकी ग्रन्थियोंको सुलझानेका यथासम्भव प्रयत्न किया गया है, क्योंकि ग्रन्थकारने कतिपय स्थलोंमें जान-बूझकर स्वमेव ग्रन्थियोंको प्रयत्नपूर्वक रखनेको लिखकर अपनेको बुद्धिमान मानकर पढ़नेका प्रयत्न करते हुए तथा श्रद्धापूर्वक गुरुसेवासे ही उन ग्रन्थियोंको समझकर इस महाकाव्यके रसका आनन्द लनेके लिये कहा है—

'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखं व्यासज्जनं सज्जनः॥' (प्रशस्ति ३)

श्रीहर्षके पौराणिक ज्ञानके विषयमें हम पहले ही लिख चुके हैं। अनेक स्थलोंमें उन्होंने पौराणिक विषयोंका वर्णन किया है, उनकी भी तत्तत्स्थलोंमें पौराणिक कथाएं लिख दी गयी हैं।

मल्लिनाथने बहुतसे श्लोकोंकी व्याख्या संक्षेप मानकर नहीं की है, उन श्लोकोंका भी 'नैषधप्रकाश' व्याख्याके सहित हिन्दी अनुवाद तत्तत्स्थलोंमें कोष्ठकमें लिखा गया है। प्रत्येक सर्गकी कथाका सारांश संक्षिप्त रूपसे विषयसूची में लिखा गया है। श्रीहर्षके बहुत से सूक्तिपद कण्ठस्थ करने योग्य हैं, लोकोक्तियां भी पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं सर्वसुविधा के लिए इन्हें भी संगृहीत कर दिया गया है। मूल तथा प्रक्षिप्त श्लोकों की अकारादिक्रमसे

सूची भी ग्रन्थान्तमेंदी गयी है। इस प्रकार इस ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर एवं सरल बनाने का यथाशक्य प्रयत्न किया गया है। आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि इससे सर्वसाधारण पाठकवृन्द को अवश्य लाभ एवं सरलता होगी।

आभार प्रदर्शन—

सर्वप्रथम भगवान् विश्वनाथ एवं अन्य गुरुवर्योंके साथ इस ग्रन्थके हमारे अन्यतम गुरु स्व० म० म० श्री ६ देवीप्रसादजी शुक्ल कविचक्रवर्ती तथा स्व० म० म० श्री ६ माधव भाण्डारी महोदयके चरणकमलमें बद्धाञ्जलि प्रणाम करता हुआ उनका आभार मानता हूँ, जिनकी चरणानुकम्पासे मैं इस सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यकी 'मणिप्रभा' नामकी हिन्दी टीका लिखनेमें समर्थ हुआ, तथा म० म० पं० शिवदत्तशर्मा, पं० बलदेवजी उपाध्याय एम० ए० और श्रेष्ठिवर्य कन्हैयालालजी पोद्दार महोदयोंका भी बहुत आभार मानता हूँ; जिनके प्रस्तावना तथा इतिहास ग्रन्थोंकी सहायता से मैंने इसकी यह भूमिका लिखी है।

राजकीय संस्कृत कालेज काशीके प्रधानाचार्य माननीय श्री पं० त्रिभुवनप्रसादजी उपाध्याय एम० ए० तथा प्रधानाध्यापक आचार्य श्री पं० बदरीनाथजी शुक्ल, एम० ए० महोदयोंका तो मैं अतिशय आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थका क्रमशः प्राक्कथन तथा सम्मति लिखनेकी कृपा की है।

अन्तमें हम इस ग्रन्थके प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज के प्रधानाध्यक्ष गोलोकवासी माननीय श्रीयुत हरिदास जी गुप्त के पुत्र बाबू जयकृष्णदासजी गुप्तको विशेष धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने आशातीत विलम्ब होने तथा ग्रन्थके आकारके अत्यधिक बढ़ जानेपर भी अपने लाभकी ओर विशेष ध्यान न देकर इस ग्रन्थको सर्वसाधारणको सुलभ मूल्यमें देनेके विचारसे प्रकाशित कर संस्कृत-वाङ्मयकी सेवाका महान् आदर्श उपस्थित किया है। अन्यान्य भी मेरे जिन मित्रवर्योंने मेरे बाहर रहनेसे प्रूफसंशोधनादि कार्यद्वारा इसे पूर्ण करनेमें योग दिया है उनको भी मैं साभार अनेकशः धन्यवाद देता हूँ।

अन्तिम निवेदन—

इस महाकाव्यके अनुवाद कार्यको गुरुतर भार मानते हुए सहृदय विद्वानों एवं प्रिय छात्रोंसे भी मेरा विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थको भी मेरे अनूदित अमरकोष, रघुवंश महाकाव्य तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंके समान ही अपनाकर मुझे पुनः अन्य ग्रन्थोंको लिखनेके लिए उत्साहित करनेकी कृपा करें। साथ ही मानव-सुलभ दोषवश यदि कहीं त्रुटि दृष्टिगोचर हो, उसे मुझे सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे अग्रिम संस्करणमें उसको दूर कर दिया जावे। इति शम्।

वाराणसी
महाशिवरात्रि सं० २०१०

विबुधविधेयः
हरगोविन्द शास्त्री

॥ रसो वै ब्रह्म ॥

नैषधमहाकाव्यम्

जीवातु-मणिप्रभा-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः [1]कथां तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति–निपीयेति । यस्य क्षितिरक्षिणः क्षमापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिबतेः 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी। सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत् कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः । तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति । "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा । व्यतिरेक" इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जराविति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

१. 'कथाः' इति पाठान्तरम् ।

शिवाशिवतनूजोऽपि त्रिलोकीशिवकारकः ।
वक्रतुण्डोऽपि सुमुखो यस्तं वन्दे गणाधिपम् ॥ १ ॥
जगतां व्यवहारस्य याऽस्ति हेतुः सनातनी ।
सारदां शारदाभ्राच्छवस्त्रां वन्देऽस्मि शारदाम् ॥ २ ॥
हपदद्वरमयचिन्तामण्योराद्यं[1] न कामये जातु ।
याचेऽन्त्यं[2] वाक्सेवालभ्यं सज्ज्ञानदं सततम् ॥ ३ ॥
लोकनाथं पूर्णचन्द्रं [3]श्रीत्रिवेदिमहाशयौ ।
शब्दशास्त्रगुरून् वन्दे भक्तिनम्रस्तदङ्घ्रिषु ॥ ४ ॥
देवीप्रसादमाध[4] वपदपोतावाश्रयामि सदा ।
काव्यार्णवे विहर्तुमथ [5]चिन्तामणिश्च समवाप्तुम् ॥ ५ ॥
'आरा' मण्डल 'केसठ'वास्तव्यो 'मूर्ति'गर्भसंभवः ।
'हरगोविन्दः शास्त्री' 'रामस्वार्था'त्मजन्माहम् ॥ ६ ॥
कुर्वे 'नैषध'व्याख्यां स्वराष्ट्रभाषामयीमधुना ।
एषा मुदेऽस्तु सुधियां सान्तेवसतां सदा लोके ॥ ७ ॥

पृथ्वीपालक (राजा) जिस (नल) की कथाओंका सम्यक् प्रकारसे पानकर विद्वान् लोग (या—अमृतभोजी देवता लोग) अमृतका वैसा (नलकी कथाके समान) आदर नहीं करते हैं, (अपने) कीर्तिसमूहको श्वेतच्छत्र बनाये हुए तथा नित्य उत्सववाले वे तेजोराशि अर्थात् महातेजस्वी नल हुए। अथवा—जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (वृष्टयादिके द्वारा) पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले देव अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते,……। अथवा—जिसकी कथाका……देव सुधामय अर्थात् चन्द्रमामें भी वैसा आदर नहीं करते,……। अथवा……जिसकी कथाका……पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले अर्थात् राजा लोग तथा बुध अर्थात् देवलोग अमृतका भी वैसा—आदर नहीं करते। अथवा—जिसकी कथाका……(फणामण्डलपर पृथ्वीको धारण करनेसे) पृथ्वी-रक्षक होनेसे अमृत तथा नल कथाके (एवं अमृतभोजी तारतम्यके) ज्ञाता शेष तक्षकादि नाग लोग अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते……। अथवा— क्षितिः+अक्षिणः' पदच्छेद

---

१. 'चिन्तामणि' संज्ञकप्रस्तर-नैषधोक्त (१४।८५) 'चिन्तामणि'मन्त्रयोः ।

२. नैषध एव श्रीहर्षकविनोक्तं (१४।८५) 'चिन्तामणि' संज्ञकं मन्त्रम् ।

३. श्रीपूज्यपाद पं० देवनारायणत्रिवेदि—(महाशयजीनाम्नाख्यात) श्री पं० रामयश शास्त्रिपाठिनौ ।

४. कविचक्रवर्तिमहामहोपाध्याय-श्री पं० देवीप्रसादशुक्लः, महामहोपाध्यायो दाक्षिणात्यो विद्वान् श्री पं० माधवशास्त्री भाण्डारी च (मत्काव्यपाठयितारौ)।

५. नैषधचरितकाव्यार्णवात् चतुर्दशसर्गीयपञ्चाशीतितमश्लोकोक्तं चिन्तामणिमन्त्रम् ।

करके) जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (स्थित व्यक्ति-विशेष के) कलि (कलिजन्य दोष) का नाश होता है तथा जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर बुध (विद्वान्, या देव) अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते······। अथवा—अक्षी अर्थात् द्यूतक्रीडारत जिस नलकी पृथ्वी (राज्य) है और जिसकी कथाका······(इससे द्यूतव्यसनी नलको राज्य होनेसे इनकी आश्चर्यजनिका अलौकिकी शक्ति व्यक्त होती है) उत्तरार्द्धका व्याख्यान्तर—अथवा—जिस नलने अत्यधिक उज्ज्वल गुणविशिष्ट शृङ्गार रस है, अथवा—जिस (नल) में दमयन्तीका उक्तरूप शृङ्गार रस अत्यधिक है, ऐसे तेजोराशि (अथवा—सूर्यके समान स्थित) चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिमण्डलको श्वेतच्छत्र बनाये हुए वे नल थे [राजा नलका द्यूतव्यसनी होना आगेके कथा-भागमें यद्यपि नहीं वर्णित है, तथापि महाभारतादिमें द्यूतव्यसनके कारण ही उनके राज्यच्युत होनेका वर्णन मिलता है । नलकी कथाको अमृताधिक मधुर होनेसे तथा अधिक शृङ्गार-रसपूर्ण होनेसे इन्द्रादि देवोंका त्यागकर नलमें ही दमयन्तीका अनुराग होना उचित ही था । 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥' उक्तिके अनुसार नल-कथाकीर्तनको कलिका नाशक होना सुप्रसिद्ध है । यहाँ पर शिष्टाचारानुसार किसी विशिष्ट देवतादिका नमस्कारादि रूप मङ्गल नहीं किया गया है, किन्तु पूर्वोक्त 'कर्कोटकस्य······' तथा 'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः । पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥' वचनों के अनुसार नल-कथाके कीर्तनको ही विशिष्ट वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गला-चरणरूपमें श्रीहर्षमहाकविने माना है । कुछ विद्वान् इसे अभीष्ट देव रघुनाथजीका सबीज नमस्कारात्मकरूप मङ्गल मानते हैं । इस नैषधचरित महाकाव्यमें धीरललित राजा नल नायक हैं तथा सम्भोग और विप्रलम्भरूप द्विविध शृङ्गाररस अङ्गी है और अन्य करुणादि रस उसके अङ्ग हैं] ॥ १ ॥

रसैः कथा यस्य [1]सुधावधीरिणी नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्त्रितज्ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

इममेवार्थमन्यथा आह—रसैरिति । यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसो गन्धो रसः स्वादु' इति विश्वः । सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः । भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः । 'जायाया निङ्' इति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः । स नलः गुणैः शौर्य्यदाक्षिण्यादिभिः । अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः । अभूत् । कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्त्रञ्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः । ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्त्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः । इह कीर्तेः सितातपत्त्रस्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्ड-

१. 'सुधावधीरणी' इति पाठान्तरम् ।

वैशिष्टयात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः। अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

जिस (नल) की कथा (शृङ्गारादि नव) रसोंसे (केवल मधुर रसवाले, या—मधुरादि छः रसोंवले) अमृतको तिरस्कृत करनेवाली है अर्थात् अमृतसे भी श्रेष्ठ है, सुवर्णका दण्ड तथा एक श्वेतच्छत्र बने हुए हैं जलते हुए प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिसके ऐसे (अतएव, शौर्यादि या – सन्धि-विग्रहादि छः) गुणोंसे आश्चर्यकारक वे राजा नल थे। (अथवा—जिसकी कथा-रसोंसे सुधाकी अवधि अमृतकी सीमा अर्थात् श्रेष्ठतम अमृत) को हीन करनेवाली थी। अथवा—जिसकी कथा-रसोंसे सुधावधि अर्थात् अमृतकी सीमा थी। अथवा--जिसकी कथा रसोंसे पुण्यसञ्चारिणी बुद्धिवाली, नित्य रणतत्पर तथा भूस्वामिनी थी, (इन तीनों विशेषणोंसे कथामें मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति तथा प्रभुशक्तिका होना सूचित होता है। अथवा—जिसकी कथा 'ह' अर्थात् काम की भूमि अर्थात् नभिलापोत्पादिनी तथा एक श्वेतच्छत्र बने हैं जलते हुए (तीव्रतम) अर्थात् शत्रुओंको असह्य प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिससे (या-जिसके), ऐसे गुणाद्भुत वे (प्रसिद्धतम) राजा नल थे) [शृङ्गारादि नव रसोंवाली नल-कथा का एकमात्र मधुर रसवाली (या-मधुरादि षड्रसोंवाली) सुधाको पराजितकर तिरस्कृत करना उचित ही है। प्रतापका तप्तसुवर्ण के समान तथा कीर्ति-समूहका श्वेत वर्णन होने से यहाँपर उन्हें क्रमशः सुवर्णदण्ड तथा श्वेतच्छत्र बनाया गया है। राजाका सुवर्ण दण्डयुक्त एक श्वेतच्छत्र होनेसे अन्य राजाओंका नलके लिए करदाता होना सूचित होता है। जलते हुए नल प्रताप-समूहका एक सुवर्णदण्ड बननेपर उस प्रतापसमूहका सङ्कुचित होना ध्वनित होता है, अत एव 'सुवर्णदण्ड' शब्दका ब्राह्मणादि वर्णोंका सुन्दर शासन अर्थ करके परिहार करना उत्तम पक्ष है] ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा[1]।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत् यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदाः' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां 'कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवल स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रं करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयंत्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किं

१. 'यत्कथा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

तेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्-'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया॥' इति॥ ३॥

जिस (नल) की कथा इस (कलि) युगमें संसारको पवित्र (निर्दोष) करती है, वह नलकथा मलिन भी स्वसेविना अर्थात् दोषयुक्त मेरी वाणीको शृङ्गारादि रसोंसे धोये हुए के समान क्यों नहीं पवित्र (दोषहीन, पक्षा०—स्वच्छ) करेगी? अर्थात् अवश्य करेगी। [जिस प्रकार जलसे धोयी हुई कोई वस्तु स्वच्छ एवं निर्दोष हो जाती है, उसी प्रकार नलकथा 'कर्कोटकस्य नागस्य……' इत्यादि वचनोंके अनुसार मलिन भी स्वसेविनी मेरी वाणीको अवश्यमेव निर्दोष करेगी, इसी कारण मैं श्रीहर्षकवि अन्य कथाओंको छोड़कर नल-कथाका ही वर्णन करता हूँ]॥ ३॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥ ४॥

अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह-अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दशे'त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे'इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं स्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति॥ ४॥

(द्वितीय श्लोकमें नलको 'गुणाद्भुत' कहा गया है, उसीका यहां प्रतिपादन करते हैं—) अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुसार आचरण तथा प्रचार अर्थात् ब्राह्मणोंको द्रव्यादि देकर शिष्योंको अध्यापन कराना—इन प्रकारोंसे चार दशाओंको करते हुए इस नलने स्वयं चौदह विद्याओंमें चतुर्दशत्व क्यों किया? यह मैं नहीं जानता। [जो विद्याएँ स्वयं चौदह थीं, उनको चतुर्दशत्व करना पिष्टपेषणके समान निरर्थक है। अथवा चौदह विद्याओं में से प्रत्येकको अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण तथा प्रचाररूप चार दशाओंसे (१४×४=५६) छप्पन करना चाहिए था, फिर चतुर्दशत्वं अर्थात् चौदह ही क्यों किया? इस प्रकार विरोध-द्वयका परिहार 'चौदह विद्याओंको चार दशा (अवस्था) ओं वाली किया' अर्थ द्वारा करना चाहिए। नल चौदहों विद्याओंके अध्यक्ष, ज्ञाता, आचरणकर्ता तथा प्रचारक थे। क्षत्रियको अध्यापनका निषेध होनेसे विद्वान् ब्राह्मणको धनादि देकर शिष्याध्यापन करानेमें दोषाभाव समझना चाहिये]॥ ४॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह-अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्त्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः । विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः । त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'त्यमरः । अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि'त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्, विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशतामष्टादशसंख्याम् अगाहत अभजत । पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः । प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः । 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति । अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय-विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः । त्र्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम् । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५ ॥

इस (नल) के जिह्वाग्रपर सदा नृत्य अर्थात् निवास करनेवाली विद्याने (व्याकरणादि छः) अङ्गोंसे गुणा करनेपर विस्तारको प्राप्त (ऋक्-यजुः सामवेदरूप) त्रयीके समान मानो अठारह द्वीपोंकी विजयलक्ष्मीको अलग-अलग जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्यात्व को प्राप्त कर लिया है । (अथवा-इस नलके रसनाग्रपर नृत्य करनेवाली जो बुद्धि है, वह······। अर्थात् इनकी बुद्धिने अठारह संख्यात्वको इस लिए प्राप्त किया है कि मैं अठारह द्वीपोंकी नलकृत जयश्रीको पृथक् पृथक् जीत लूँ । जिस प्रकार कोई नर्तकी शिर हाथ आदि छः अङ्गों, ग्रीवा-बाहु आदि छः प्रत्यङ्गों तथा भ्रू-नेत्रादि छः उपाङ्गोंसे विस्तार को प्राप्तकर अष्टादश संख्यावाली हो जाती है । अथवा—नलने अठारह द्वीपोंको जीतकर अठारह जयश्रियोंको प्राप्त कर लिया है, अत एव मैं भी अठारह द्वीपोंकी जयश्रीको जीत लूँ, इस भावनासे इनकी उक्तरूपा विद्याने भी अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया । अथवा—नल पाकशास्त्रके महापण्डित थे, अतः इनकी पाकशास्त्र विद्याने 'मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय और तिक्त' रूप छः रसोंके न्यून-अधिक और समरूप प्रकार त्रयसे (६×३=१८) विस्तार को प्राप्तकर अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया है, यथा—मधुर द्रव्यमें दूसरे मधुर द्रव्यको न्यूनमात्रामें तिक्त द्रव्यमें अधिक मात्रा में और अम्ल

(खट्टे) द्रव्यमें सममात्रामें प्रक्षेप करनेसे एक मधुर द्रव्यके तीन भेद होते हैं, इसी प्रकार ६ द्रव्योंमें न्यून, अधिक और सम मात्रामें द्रव्यान्तर डालनेसे १८ भेद हो जाते हैं। अथवा-टूंड़वाले जौ-गेहूँ आदि, फली (छीमी) वाले मटर आदि, कण्टकवाले चना आदि—ये तीन प्रकारके धान्य, भूचर-जलचर तथा खेचर जीवोंके त्रिविध मांस, अम्लादि पूर्वोक्त ६ रस और कन्द-मूल-फल-नाल-पत्र-पुष्परूपमें ६ प्रकारके शाक (३+३+६+६=१८) इस प्रकारसे विस्तारको प्राप्तकर पाकशास्त्रके महापण्डित इस नल की रसनाग्रनर्तकी विद्याने अठारह द्वीपोंकी जयलक्ष्मीको पृथक् पृथक् जीतनेके लिए मानो अठारह संख्याको प्राप्त किया है। अथवा—दूध-दही[1] आदिके अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त, नलकी रसनाग्रनर्तकी पाकशास्त्रविद्याने······। अथवा-द्यूतव्यसनी होने से बहुत बोलने वाले नल की रसनाग्रनर्तकी द्यूतविद्या दुआ-तिआ-चौका-पञ्जा तथा चार उड्डोयक (२+३+४+५+४=१८) रूप गुणोंसे विस्तारको प्राप्त अठारह द्वीपोंकी जयश्री········। अथवा—त्रयीका उद्धाररूप अथर्ववेद, व्याकरण आदि ६ वेदाङ्ग, गुण अर्थात् आठ अप्रधान पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्र-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र; तथा ऋक्-यजुः सामवेद (१+६+८×३=१८) इन अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त इस नलकी जिह्वाग्र, नर्तकी विद्या······। पूर्वश्लोकोक्ति १४ विद्या तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र (१४+४=१८) ये अठारह विद्याएँ नलके जिह्वाग्रपर सर्वदा निवास करती थीं और उन्होंने अठारहों द्वीपोंको भी जीत लिया था, इस प्रकार नल परस्परविरोधिनी श्री और सरस्वती दोनोंके आश्रय थे] ॥ ५ ॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

अथास्य देवांशत्वमाह-दिगीशेति। दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः। तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती-रि'ति। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः। दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते। कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः। कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः। निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावत-

1. तदुक्तम्—'दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुगम् ।
मध्वार्टविकहविष्यं विदलान्नञ्चेति विज्ञेयम् ॥
कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलञ्चेति ।
अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिसुतया ॥' इति ।

त्त्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी'ति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम् । द्व्यधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे। एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते । शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकमंद्वयम् । अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप् सुपे'ति समासः, न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः । अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम् ॥ ६ ॥

(इन्द्रादि) दिक्पाल-समूहके अंशसे विभूतिवाले तथा आठ दिशाओंके स्वामी उस नलने काम (कामदेव, पक्षा० = इच्छा) की प्रबलताको रोकनेवाले तथा अपनेको त्रिनेत्र शिवके अवतारका बोध करानेवाले दो से अधिक शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको धारण किया। [राजा नल सम्पूर्ण दिशाओंके शासक थे और इन्द्रादि दिक्पाल १-१ दिशाके ही शासक थे, अत एव इन्द्रादिमें इस नलकी विभूति थी, अथवा-वचनके[1] अनुसार राजा नल समस्त दिक्पालोंके अंशसे ऐश्वर्यवान् थे, ऐसे वे शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको ग्रहणकर इच्छाकी प्रबलता अर्थात् मनको शास्त्रविरुद्ध कार्यमें प्रवृत्त होनेसे वैसे रोकते थे, जैसे त्रिनेत्र शङ्कर भगवान्ने तृतीयनेत्रसे कामदेवकी प्रबलताको रोका था । इस प्रकार नल शास्त्रज्ञानद्वारा कामप्राबल्यको रोककर अपनेको शङ्करका अवतार बतला रहे थे। नल शास्त्रज्ञ होनेसे शास्त्रविरुद्ध कार्य करनेसे अपनी इच्छाको सर्वदा रोके रहते थे] ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ? ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ ७ ॥

अथास्य प्रभावं दर्शयति-पदैरिति । अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः-'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थिरीकृते निश्चलीकृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनमिति भावः न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः । यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपिशब्दार्थः, कृशः, दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः । तपस्वित्वं तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विना'विति विश्वः । दधौ धारयामास । अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् । किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

---

१. तदुक्तम्—'सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥' इति (मनु० ५।९६)

इस (नल) के द्वारा सत्ययुगमें (सत्य, अचौर्य, शम, दम रूप, या—तप, दान, यज्ञ, ज्ञानरूप) चार चरणोंसे पुण्यके स्थिर किये जाने पर किसने तपश्चर्या को ग्रहण नहीं किया ? अर्थात् सभीने तपश्चर्याको ग्रहण किया। (अधिक क्या ?) जो एक पैर पर स्थित होकर, अथवा—एक पैरकी कनिष्ठा (सबसे छोटी) अङ्गुलिसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ (अतएव) दुर्बल अधर्मने भी तपस्विताको ग्रहण किया अर्थात् तपस्वी हो गया। [सत्ययुगमें उत्पन्न राजा नलने पुण्यको चारों चरणोंसे स्थिर कर दिया था, अतः उस समय सभी लोग तपश्चर्यामें संलग्न थे। यही नहीं, किन्तु धर्मविरोधी अधर्म भी एक चरणसे पृथ्वीपर वास करता हुआ अतिशय दुर्बल होकर तपस्वी बन गया था। यहां पर सत्ययुगमें धर्मकी स्थिति चारों चरणोंसे रहनेपर भी अधर्मकी स्थिति एक चरणसे रहती है, और वह अधर्म अत्यन्त क्षीण रहता है। लोकमें भी कोई तपस्वी एक चरणसे, या—एक चरणकी कनिष्ठा अङ्गुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ तपश्चर्या करता है तो वह अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। 'अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि। प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः॥' इस वचनमें सत्ययुगादिक्रमसे नल, रामचन्द्र तथा युधिष्ठिर का वर्णन होनेसे नलकी स्थिति सत्ययुगमें ही सिद्ध होती है, तथापि कतिपय विद्वान् उनकी स्थिति त्रेतायुगमें मानते हैं, तदनुसार इस श्लोकका अर्थ ऐसा करना चाहिये—इस नल के द्वारा त्रेतायुगमें सुकृति अर्थात् धर्मके चार चरणों द्वारा स्थित किये जानेपर……। अथवा—त्रेतायुगमें भी चार चरणोंसे स्थितकर धर्मके सत्ययुग किये जानेपर अर्थात् त्रेतायुगमें भी सत्ययुगके समान धर्मकी स्थिरता करने पर……। प्रथम अर्थ पक्षमें 'सुकृति' शब्दके षष्ठीमें 'सुकृतेः' पाठ मानकर 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' वार्तिकसे विसर्गका पाक्षिक लोप करने पर भी उक्त अर्थकी तथा 'सुकृते, स्थिरीकृते' ऐसे सप्तम्यन्त श्लेषकी अनुपपत्ति होनेसे उक्त अर्थके लिये जो 'प्रकाश' कारने 'सुकृते' ऐसे सविसर्ग पाठ माना है, वह चिन्त्य है]॥ ७॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥ ८॥

अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति—यदित्यादिभिः। अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहिः। मञ्जशब्दादिमनिच्प्रत्ययः। यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः। सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति भावः। अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति। अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः॥ ८॥

इस (नल) की (दिग्विजय-सम्बन्धिनी) यात्राओंमें, दीप्यमान प्रतापाग्निके धुएँके समान सुन्दर और यहाँसे जाकर अमृत-समुद्र अर्थात् क्षीरसागरमें गिरी हुई एवं (गिरनेसे) कीचड़ होती हुई, सेनासे उड़ी हुई धूल चन्द्रमामें कलङ्क हो रही है। (अथवा—अमृतके

समुद्र चन्द्रमामें कलङ्क हो रहा है)। [जब राजा नल दिग्विजयके लिए सेना लेकर यात्रा करते हैं, तब इनकी सेनासे जो धूल उड़ती है, वही क्षीरसमुद्रमें गिरकर कीचड़ बन जाती है और वहांसे उत्पन्न चन्द्रमामें कीचड़ लग जानेसे वही कलङ्करूपसे प्रतीति होती है। इससे राजा नलकी सेनाका अत्यधिक होना तथा समुद्रपर्यन्त विजयी होना सूचित होता है]॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे॥ ९॥

स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपात पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषे इन्द्रचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघ तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी, यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि'त्यमरः। तया व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वाद्व्ययतेः कर्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्त्तिं वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः॥ ९॥

शताधिक शत्रुओंने युद्धमें प्रकाशमान धनुषके टङ्कारवाले (या—……टङ्कारके विस्तृत करनेवाले) उस नलके अत्यधिक बाणोंकी असह्य वर्षासे बुझी हुई अपने (शत्रुओंके) तेजरूप अग्निके अङ्गारके समान अयशको फैला दिया। [नल युद्धमें प्रकाशमान धनुषके टङ्कार करते हुए मेघके समान बाणोंको बरसाते थे, उस बाणवृष्टिसे शताधिक नल शत्रुओंकी प्रतापाग्नि बुझ गयी और उनके कृष्णवर्ण अङ्गारके समान अयश फैल गये अत्यधिक वृष्टि से अग्नि का बुझना और सर्वत्र उसके काले-काले अङ्गारों का फैलना उचित ही है। नलने युद्धमें शताधिक शत्रुओं को जीतकर उनको प्रतापाग्निको बुझा दिया था]॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः॥ १०॥

अनल्पेति। राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघातीत्यर्थः 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः। नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोपदण्डसमुत्थतेजोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः। ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वादिति भावः। जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति शेषः। नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः। नीराजनया आर

तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज। तत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। इति व्याचक्षते। तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यालङ्कृतेरिति ॥ १० ॥

(क्षुद्र प्राणियोंको नहीं, किन्तु महाप्रतापी एवं शूरवीर) राजाओंको मारनेवाले तथा बहुतसे जलाये गये शत्रुनगरोंवाली अग्निके समान प्रकाशमान अपने प्रतापोंसे प्रकाशमान भूमण्डलको प्रदक्षिणा कर स्थित वे (नल) विजयके लिये (पुरोहितोंके द्वारा) की गयी नीराजना अर्थात् आरतीसे शोभते थे।[1] अथवा—उक्तरूप अपने प्रतापोंसे मानो विजय के लिए रचित आरती (पक्षा०—नीराजना = राजाओंका अभाव अर्थात् नाश करने) से प्रकाशमान भूमण्डलकी प्रदक्षिणा कर शोभते थे। अथवा—'प्रदक्षिणी, कृती, अजया, आय = प्रदक्षिणीकृत्यजयाय' ऐसा पदच्छेदकर अधिक दक्षिणाशील, अनुचरोंवाले कृतकर्मा, विपक्षराजहन्ता वे नल लक्ष्मीके द्वारा विष्णुके लिए रचित आरतीसे शोभित होते थे, शेष अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। इस पक्षमें नलके अनुचर प्रदक्षिण (अधिक दक्षिणा देनेवाले अर्थात् वदान्य) थे और नल उनसे युक्त होनेसे 'प्रदक्षिणी' (वदान्यतम अर्थात् अत्यधिक दानशील थे। अथवा—अधिक दक्षिणावाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्ता होनेसे नल 'प्रदक्षिणी' थे। राजाको सर्वदेवांशभूत होनेके कारण विष्णुरूप भी होनेसे लक्ष्मीके द्वारा आरती करना उचित ही है] ॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' ॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्यः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः ॥ ११ ॥

(अतिवृष्टि आदि छः) ईतियोंसे रहित सम्पूर्ण भूतलपर उस (नल) के द्वारा रोकी

---

१. दिग्विजय करते हुए भूमण्डलकी प्रदक्षिणा कर लौटे हुए विजयी नल पुरोहितोंके आरती करनेसे शोभित होते थे।

गयी अतिवृष्टियोंने मानो अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर शत्रुभूत राजाओंकी मृगनयनियों दृष्टियों (नेत्रों) को नहीं छोड़ा। [राजा नलके राज्यमें कहीं भी अतिवृष्टि आदि ईति नहीं होती थी, अत एव पृथ्वीपर कहीं भी आश्रय नहीं मिलनेसे उन्होंने शत्रुओं रानियोंके नेत्रका आश्रय लिया अर्थात् नलने शत्रुओंको मारा, अत एव उनकी स्त्रि बहुत रोती थीं। लोकमें भी किसीके द्वारा निकाला गया कोई व्यक्ति उसके शत्रुके पा जाकर आश्रय पाता है, तथा अतिवृष्टिरूप स्त्रियोंके लिए मृगनयनियोंकी दृष्टि रू स्त्रियोंके पास आश्रय पाना उचित ही है ॥ ११ ॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

सितांश्विति। सत्ता महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा वायदण्ड' इत्यमरः तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे च'ति करोतेः क्वनिप्प्रत्ययः। 'वनो र च'ेति ङी रश्च। तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातु चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः। 'नाकु' इ प्रसिद्धा. रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नल गुणैः शौर्य्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम् 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छादनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान साङ्गरूपकमलङ्कारः। संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दि यशसा प्रपूरिता इति भावः ॥ १२ ॥

उस (नल) के योद्धाओंकी (या—उस प्रसिद्ध नलके योद्धाओंकी) चतुरतारूपि तथा विशाल तलवाररूपिणी वेमाका साथ करनेवाली तुरी संग्रामाङ्गणमें चन्द्रवत् स्व नलके गुणों (पक्षा०—सूतों) से दिशारूपिणी स्त्रियोंको ढकनेवाले यशोरूपी बड़े क को बुनती थी। [नलके योद्धाओंकी चतुरतासे संग्राममें तलवारोंके प्रहारसे शत्रु मरते तो नलका यश दिगन्ततक फैलता था] ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

प्रतीपेति। प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिक धर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्र भेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्झिता त्यक्ता किम् ? यद् यस्मात् स नलः ओजा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः। अत्र खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। तथा चारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक्। 'राजानश्चारचक्षु इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक् स क

चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपिर्वि-रोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः॥ १३॥

विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावोंने भी उस नलके भय से भेदभाव को छोड़ दिया क्या?। जो नल अमित्रजित (शत्रुओंको जीतनेवाले) होकर भी मित्र जित (मित्रोंको जीतनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—अपने प्रतापसे सूर्यको जीतनेवाले) थे तथा चारदृक् (गुप्तचरोंके) द्वारा (कार्यकलापको देखनेवाले) होकर भी विचारदृक् (गुप्तचरोंके द्वारा नहीं देखेनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—विचारसे देखनेवाले अर्थात् विचारपूर्वक कार्य करनेवाले) थे। [जो नल मित्रजित थे, उनका अमित्रजित (मित्रजित नहीं) होना तथा जो चारदृक् थे, उनका विचारदृक् (चारदृक् नहीं) होना अर्थ करके विरोध आता है; अतः उसका परिहार 'जो नल प्रभावसे सूर्यको जीतनेवाले थे, वे शत्रुओं को भी जीतनेवाले थे और जो चारदृक् (दूतोंके द्वारा कार्योंको देखनेवाले) थे, वे विचार-दृक् (विचारपूर्वक कार्योंको देखनेवाले) थे, अर्थ के द्वारा करना चाहिये]॥ १३॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥ १४॥

तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशः तस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्तासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रति-षेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रति-षिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः॥ १४॥

'उस नलके प्रताप तथा यशके रहनेपर ये दोनों (सूर्य तथा चन्द्रमा) व्यर्थ हैं, इस प्रकार ब्रह्मा मनमें जब-जब विचारते हैं, तब-तब सूर्य तथा चन्द्रमाके परिवेष (कभी-कभी सूर्य तथा चन्द्रमामें दृष्टिगोचर होनेवाला गोलाकार घेरा) के छलसे (व्यर्थतासूचक) कुण्डलना बना देते हैं। [लोकमें भी कोई व्यर्थ वस्तु लिखी जाती है तो उसको चारों ओरसे घेर देते हैं। नलके प्रताप तथा यशको सूर्य-चन्द्राधिक समझकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माको, सूर्य-चन्द्रको घेरकर व्यर्थ माननेकी उत्प्रेक्षा की गयी है]॥ १४॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः॥ १५॥

अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति—अयमिति विभज्येति च । अल्पितः अल्पीकृत निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादप अल्पतरुः वाञ्छितफल प्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधन दानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः। अयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधसः इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान् । विधातुर्लिपौ सामा न्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञान दरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धना भावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

(अब नलकी दानवीरताका वर्णन करते हैं) 'यह दरिद्र होगा' इस प्रकार याच लोगोंके ललाटमें लिखे गये ब्रह्माक्षरको, (याचनासे भी अधिक दान देनेके कारण) क वृक्षको भी तुच्छ करनेवाले राजा नलने उन याचकोंकी दरिद्रताकी दरिद्रता करके व्य नहीं किया, (अथवा—व्यर्थ नहीं किया ? अर्थात् व्यर्थ कर ही दिया)। [राजा नल याच की अभिलाषासे भी अधिक दान देनेवाले, अत एव उनके राज्य में कोई भी दरि नहीं था] ॥ १५ ॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराशिरस्स्थितम् ॥ १६ ॥

विभज्येति । मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः कृतः। अर्थिने देयमिति 'देये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः। सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजला व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नले द्विफालबद्धाः द्वयोः फाल्योः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रचिता इति यावत्, फलतेर्विशा णार्थे अप्प्रत्ययः। विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्ध त्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बाल कचः केशः शिरोरुह' इत्यमरः। शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयं अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः। अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अय शोरूपणमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

(प्रकारान्तरसे अधिक दानवीरताका पुनः वर्णन करते हैं—'जो मैंने सुमेरु पर्वत विभक्तकर याचकोंके लिए नहीं दे दिया और दानके सङ्कल्पजलसे समुद्रको म

स्थल नहीं बना दिया' इस प्रकारके दोनों ओरके काकपक्ष (बँधे हुए केशकलाप) रूपं मेरे दो अपयश शिरपर स्थित हैं ऐसा उस नलने माना। [अपयशका काला एवं शिर पर स्थित होना लोकप्रसिद्ध है। दो काकपक्षको उक्तरूप दो अपयश होनेकी कल्पना की गयी है]॥ १६॥

अजस्रमभ्या[1]समुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७॥

अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः। अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः। कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण न बुधेन विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कारः॥ १७॥

बुद्धिमान्, सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा नल निरन्तर अभ्यास करनेवाले कवि तथा पण्डित (काव्यरचयिता तथा व्याकरणज्ञाता) के साथ हर्षपूर्वक समयको व्यतीत करते हुए प्रतिदिन समृद्धिको उस प्रकार प्राप्त कर रहे थे, जिस प्रकार निरन्तर समीपमें स्थित शुक्र तथा बुध नामक ग्रहद्वयके साथ समयको व्यतीत करते हुए तेजस्वी सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त करते हैं। [सूर्यके समीपमें शुक्र तथा बुध ग्रहका सर्वदा रहना ज्योतिःशास्त्र में वर्णित है]॥ १७॥

अधो विधानात् कमलप्रवालयोः शिरस्सु दानादखिलक्ष्माभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ १८॥

अध इति। कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्मभूतयोः अधोविधानात् अधःकरणात् न्यक्करणादिति यावत्। तथा अखिलानां सर्वेषां क्ष्माभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः। 'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम्? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥१८॥

(अब सामुद्रिक लक्षणका वर्णन करते हैं—) 'यह (नल चरण) कमल तथा प्रवाल (मूंगा, या नवपल्लवको) को नीचा करनेसे और समस्त राजाओंके शिरपर रखे जानेसे

१. 'मभ्याश—' इति पाठान्तरम्।

ऊपर (उन्नत) होगा' यह विचारकर ब्रह्माने इस (नल) के चरणको (जन्मकालसे) पहले ऊर्ध्वगामिनी रेखासे चिह्नित कर दिया है क्या ? (अथवा—'''पहले ऊपर होगा' यह विचारकर''''') । [नलके चरणमें सामुद्रिक लक्षणके अनुसार शुभसूचक ऊपरकी ओर जाने वाली रेखाएँ थीं] ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९॥

अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति-जगदित्यादिभिः । अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः । कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान् । अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः । वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत् । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

(अब यौवनावस्थाके आरम्भ होनेका वर्णन करते हैं—) बाल्यावस्था शेष (समाप्त) है जिसकी ऐसे अर्थात् सोलह वर्षकी अवस्थावाले इस नलने संसारकी विजय तथा उससे कोष (खजाने) को अक्षय कर दिया, अनन्तर इनके शरीरको युवावस्थाने इस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार बनको कामदेवका मित्र अर्थात् वसन्त ऋतु प्राप्त करता है। (बाल्यावस्था पूरी होते-होते ही नलने संसार पर विजय प्राप्त कर राज्यको निःसपत्न बना लिया तथा उस विजयसे कोषको भी भरपूर कर लिया, वास्तविकमें जगद्विजय करना ही इनका मुख्य लक्ष्य था, कोषपूर्ति करना तो आनुषङ्गिक कार्य था; क्योंकि इनके 'दानवीरता तथा कोषका भरपूर रहना पहले ही कहा जा चुका है । युवावस्थाके आरम्भ होनेसे शरीर-सौन्दर्यकी वृद्धि होना सूचित होता है) ॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ? ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अधारीति । तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्सा कृपयोरि'ति विश्वः । अधारि धृता । पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणि 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः । तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम् । तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः । शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः । सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः । पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः । 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालाट्ठञ् 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः । तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दासे कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः । एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते । अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

(अब नलकी शरीरशोभाका वर्णन आरम्भ करते हैं—) उस (नल) के चरणने पद्मोंमें घृणा (या—दया) की, (क्योंकि उनमें पद अर्थात् नल-चरणसे) (या—नल-चरणकी) शोभा थी, या—वे पद्म नलचरणमें रेखारूपमें स्थित थे, अतः 'इन पद्मोंने मुझसे शोभा प्राप्त की है। इस कारण मदपेक्षा हीनश्री इनके साथ मुझे स्पर्द्धा करना उचित नहीं है' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंमें घृणा की, या—'ये पद्म रेखारूप में मुझमें ही स्थित अर्थात् मेरे ही आश्रित हैं' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंपर दया की (अपनेसे हीनके साथ घृणा करना तथा अपने आश्रितपर दया करना नल—चरणके लिए उचित ही था)। पल्लवमें उस (नल) के हाथकी कान्तिका लेश (थोड़ा-सा अंश) भी कहां था ? अर्थात् नहीं था, (क्योंकि वह पल्लव (नल-चरणके लेश अर्थात् अल्पतमांशवाला) था, अत एव जिस पल्लवमें नल-चरणका लेश था वह भला इनके हाथकी कान्तिके लेशवाला कैसे हो सकता था ? अर्थात् हीनाङ्ग चरणका लेशवाला श्रेष्ठाङ्ग हाथकी कान्तिका लेशवाला कदापि नहीं होता)। तथा शरत्कालीन पूर्णिमाका चन्द्रमा उस (नल) के मुखके दासत्वका अधिकारी भी नहीं हुआ (तो भला नलके मुखकी समता कैसे करता ? क्योंकि चन्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमाके योगसे रमणीय हुआ था, वह भी केवल एक दिनके लिए और वह सोलह ही कलाओंसे पूर्ण था, किंतु नल-मुख स्वत एव बिना किसीके योग (सहायता) से सर्वदा के लिए रमणीय एवं चौंसठ कलाओंसे युक्त है, अतः उस हीन चन्द्रमा का श्रेष्ठतम नल-मुखकी समानता करना तो असम्भव ही था, उसे नलके दासत्वके योग्य भी नहीं होना उचित ही था (क्योंकि रमणीयतम नायकके लिए रमणीय ही दासका होना उचित होता है)। [नलके चरण-कमल से, हाथ नवपल्लवसे तथा मुख शरत्कालीन पूर्णिमाके चन्द्रमासे भी अत्यधिक सुन्दर थे] ॥ २० ॥

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥ २१ ॥

किमिति । विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः लेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः तथा जगत्कृता, स्रष्ट्रा विधिनेत्यर्थः। रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषं व्याजः तस्मात्। दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखाः न कृताः किम् ? अपि तु कृता एवेत्यर्थः। अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः। अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्वदूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

ब्रह्माने रोमोंके कपट (बहाने) से साढ़े तीन करोड़ रेखाओंसे इस (नल) के गुणों को नहीं गिना क्या ? अर्थात् अवश्य ही गिना, और जगत्सृष्टिकर्ता ब्रह्माने साढ़े तीन करोड़ रोमकूपोंके कपटसे इस (नल) के दोषाभाव-बिन्दुओंको नहीं किया क्या ? अर्थात्

अवश्य ही किया । [अत्यधिक सङ्ख्यावाली वस्तुओंको गिनते समय विस्मरण नहीं होनेके लिए रेखाओं द्वारा गिनना तथा अभावसूचक स्थानों पर गोलाकार शून्यबिन्दुओंको रखना लोकव्यवहारमें भी देखा जाता है; अतएव नलके शरीरमें ये रोम नहीं हैं, किन्तु इन नलके गुण हैं तथा ये रोमकूप नहीं हैं, किन्तु दोषाभावसूचक शून्य-बिन्दु हैं । नलमें बहुसङ्ख्यक गुण थे तथा दोष कोई भी नहीं था । 'तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।' इस वचनके अनुसार मानव-शरीरमें साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं तथा 'रोमैकैकं कूपके पार्थिवानाम्' इस कथनके अनुसार राजाका प्रत्येक रोम एक-एक रोमकूपमें होता है] ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवा[1]टदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः । उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः । स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अप्रधृष्यत्वं तिर्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः । गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति । दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

इस (नल) के बाहुद्वयने शत्रुओंके दुर्गों (किलों) को लूटनेमें मानो आगल (किवाड़की किल्ली) की विशालता तथा स्थूलताको प्राप्त कर लिया तथा वक्षःस्थलकी शोभाने मानो (शत्रुओंके) नगरद्वारपर स्फुरित होते हुए किवाड़ की दुर्धर्षता एवं विशालता को प्राप्त कर लिया । [नलके बाहुद्वय आगलके समान लम्बे एवं मोटे थे तथा छाती किवाड़के समान विशाल चौड़ी एवं कठोर थी । इससे नलका आजानुबाहु एवं विशाल वक्षस्थल वाला होना सूचित होता है] ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३ ॥

स्वकेलीति । स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निन्दितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः । निजांशः स्वावयवः यादृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं

1. '—कपाट—' इति पाठान्तरम् ।

येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः । प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः । अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे-'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अपनी क्रीडाके लेशमात्र स्मितसे चन्द्रमाको निन्दित करनेवाले तथा अपने अवयवभूत नेत्रसे कमलशोभाको तिरस्कृत करनेवाले नल-मुखकी उपमा उन दोनों (चन्द्रमा तथा कमल) की शोभाको जीतनेवाले दूसरे किसी वस्त्वन्तरसे शून्य संसारमें नहीं थी। [नलके मुखने अपनी क्रीडापूर्वक मन्द मुस्कानसे चन्द्रमाको जीत लिया तथा उस मुखके एक भाग (नेत्र) ने कमलशोभाको जीत लिया, अतएव उस नलके मुखकी उपमा संसार भरमें कोई नहीं थी, क्योंकि उस प्रकारसे नलमुखके द्वारा जगत् में सर्वसुन्दर चन्द्रमा तथा कमल पराजित हो चुके थे और दूसरी कोई सुन्दर वस्तु उन (चन्द्रमा तथा कमल) को जीतनेवाली जगत् में थी ही नहीं, जिसके साथ नल-मुखकी उपमा दी जाय । उपमेय की अपेक्षा उपमान पदार्थके श्रेष्ठ होनेपर उपमा दी जाती है, और ऐसा कोई पदार्थ था नहीं, जो नल-मुखसे अधिक सुन्दर होकर उपमान हो सके, अतएव नल-मुख अनुपम था] ॥२३॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी[1] तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह-सरोरुहमिति । तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम् । स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः । अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः । सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम् । अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

(पुनः उसी बातको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) कमलको उस (नल) के मुखने ही जीत लिया था चन्द्रमाकी शोभाओंको (नलकी) मुस्कानने ही जीत लिया, (अतः कमल तथा चन्द्रमासे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ कहांसे मिले ? अर्थात् कोई पदार्थ सुन्दर नहीं है) आश्चर्य है कि उस (नल) के मुखकी उपमाको बड़ी भारी कमी पड़ गयी ॥ २४ ॥

स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्समंचमर्येव तुलाभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

---

१. 'महीयसाम्' इति पाठान्तरम् ।

स्ववालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणःसादृश्यकाङ्क्षिणः स्ववालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अन पराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः। क्वचि त्तदभावे नञ्समासो दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। [1]अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे–'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥ २५॥

उस (नल) के मस्तकके केशोंके साथ समताको चाहने वाले अपने बाल (केश समूहके अपराधाभावके लिए चमरी गाय ही बार-बार पूँछ को हिलानेके कपटसे बाल चपलताको कहती है। [चमरी गायके बाल अर्थात् केश नलके शिरके बालोंके साथ सम नता चाहते थे, किन्तु तुच्छ होकर श्रेष्ठ नल-शिरःस्थ बाल के साथ समता करना उनका अपराध हैं, इसलिये चमरी गाय बार-बार पूँछको हिलाकर नलसे मानो यह कह रही कि उन्होंने बाल (बच्चे) की चपलता की हैं, अत एव बच्चेके चपलता करने पर उसका अपराध नहीं मानना चाहिये। लोकमें भी बच्चेके अपराध करने पर उसका अपराध न मानना चाहिये। लोकमें भी बच्चेके अपराध करने पर उसकी माता बच्चेकी चपल कहकर उसके अपराधको क्षमा करनेके लिए प्रार्थना करती है। नलके मस्तकके केश चम गायके केश-समूहसे भी सुन्दर एवं मृदु थे] ॥ २५ ॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च नि स्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुव वर्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इ विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥२

उस राजा (नल) की कामदेव-कान्तिसे तथा उस (नल) के प्रति अभिलाष हो लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंकी उस (नल) के विषयमें दो प्रकारका विभ्रम (विशिष्ट भ्रा पक्षा०— विकास) हुआ। [सुन्दरियोंको कामदेवकी शोभा होनेसे नलमें 'यह का है' ऐसा विशिष्ट भ्रम हुआ तथा उनके प्रति कामाभिलाप होनेसे कटाक्षादिरूप वि हुआ। लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको विभ्रम होना सामान्य रूपसे कहनेके कारण पति स्त्रियोंको नलके प्रति कामाभिलाष नहीं होने पर भी कोई दोष नहीं होता, अथवा—'' त्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको कामदेवकान्तिसे ही उस राजा नलमें कामदेव का विशिष्ट

१. 'अत्र पुच्छविलोलनच्छलशब्देनापह्नुता बालबालयोरभेदाध्यवसायेन बालचाप रोपादपह्नवभेदः' इति जीवातुः, इति म० म० शिवदत्तशर्माणः।

हुआ तथा पतिव्रताओंके अतिरिक्त स्त्रियोंके चित्तमें नल के प्रति कामाभिलाष होनेसे विलास हुआ' ऐसा अर्थ कर उक्त दोषका निराकरण करना चाहिए। नल कामदेवके समान सुन्दर थे]॥ २६॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः॥ २७॥

निमीलनेति। त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषयेत्यर्थः। दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः। यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः, अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति। तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते॥ २७॥

देवाङ्गनाओंने निमेषरहित दृष्टिसे उस (नल) को अच्छी तरह देखकर जिस अभ्यासाधिक्यको सम्यक् प्रकारसे प्राप्त किया, उस अभ्यासाधिक्यको वे (देवाङ्गनाएँ) अब भी निमेषरहित नेत्रोंसे प्रकट करती हैं. [देवाङ्गनाओंके स्वतःसिद्ध निमेषाभावकी नलदर्शनके अभ्यासाधिक्यसे उत्पन्न होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है। अधिक अभ्यस्त कार्यका बहुत समयके बाद भी विस्मरण नहीं होना स्वभावसिद्ध है]॥ २७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः॥२८॥

अद इति। चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पत्न्य इत्यर्थः। अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः। अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम्। न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः। तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः। अत एव अफलञ्च, इति हेतोः। तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ २८॥

'हमलोगोंके ये दोनों नेत्र उस (नलके चरित आदि) को सुनकर सफल जीवनवाले हो गये किन्तु उस (नल) को देख नहीं सके' इस प्रकार चक्षुःश्रवा (साँपों) की प्रियायें अर्थात् नागाङ्गनाएँ हृदयसे क्रमशः अपने दोनों नेत्रोंका प्रशंसा तथा निन्दा करती हैं। (नागाङ्गनाएँ नेत्रोंसे ही सुननेके कारण नलचरितको सुनकर अपने नेत्रोंको हृदयसे प्रशंसा करती हैं और स्वयं पातालमें रहनेके कारण मर्त्यलोकवासी नलको नहीं देखनेसे उन नेत्रोंकी निन्दा भी करती हैं)॥ २८॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः॥ २९॥

विलोकयन्तीभिरिति। अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं

तत्र भावनायामिति भावः। निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलवोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति मुमागमः। मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्वा अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

सतत भावनावश नेत्रोंको बन्द करनेपर भी इस नलको देखती हुई मर्त्याङ्गनाओं (मृत्युलोकवासी सुन्दरियों) ने इस (नल) को देखनेके विषयमें निमेषकृत (पलक गिरनेसे) लेशमात्र भी विघ्नको नहीं प्राप्त किया। [मानवी स्त्रियाँ निरन्तर नलकी ही भावना करती थी, अतएव वे पलक गिरनेसे नेत्रोंके बन्द होनेपर भी सतत भावनावश नलको देखती ही थीं, इस प्रकारसे नलको पलक गिरनेसे भी नलको देखनेमें लेशमात्र भी विघ्न नहीं हुआ) ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ?।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ? ॥३०॥

नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता' इत्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

(अब पतिव्रताओंको छोड़कर अन्य मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा स्त्रियोंका नलमें अनुराग कहते हैं—) किस (मुग्धा) स्त्रीने स्वप्नमें प्राप्त नलको नहीं देखा ? अर्थात् सबने देखा, किस (मध्या) स्त्रीने गोत्रस्खलन (पतिके नामके स्थानपर भ्रमवश पुरुषान्तरका नामोच्चारण होने) में नलके प्रति नहीं कहा अर्थात् सबने अपने पतिका नाम लेनेकी इच्छा रहते हुए भी निरन्तर नलकी भावना करते रहनेसे नलके ही नामका उच्चारण किया और नलरूपसे पतिका ध्यान करनेवाली किस (प्रगल्भा) स्त्रीने रतिकाल में अपने में कामकी उत्पत्ति (रति) नहीं की ? अर्थात् सबने की ॥ ३० ॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥ ३१ ॥

श्रियेति। तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति धियेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः। ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः। गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या श्वासेन दुःख

निश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः। न कृतः ? अपि तु सर्वथैव कृत इत्यर्थः। सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः॥ ३१॥

(अब अन्य स्त्रियोंको नलके अयोग्य बतलाते हुये दमयन्तीका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) नलको (चित्रमें) देखकर 'शोभासे मैं इस (नल) के योग्य हूँ' (ऐसा मनमें विचारकर) अपनेको देखनेके लिये हाथमें पकड़े गये दर्पणको, दमयन्तीके अतिरिक्त सौन्दर्याभिमानरहित किस सुन्दरीने श्वाससे मलिन नहीं कर दिया ? अर्थात् सभीने किया। [सुन्दरियोंने नलको चित्रमें देखकर 'उनके योग्य मैं भी सुन्दरी हूँ ! ऐसा सोचकर हाथमें दर्पण ग्रहण किया, किन्तु दर्पणोंमें अपने सौन्दर्यको नलसे तुच्छ देखकर उनका पूर्वाभिमान नष्ट हो गया तथा दमयन्तीके अतिरिक्त खेदसे श्वास लेती हुई सभी सुन्दरियों ने उस दर्पणको मैला कर दिया]॥ ३१॥

यथोह्यमानः खलु [1]भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥ ३२॥

एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति–यथेति। मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः। उह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः। पत्तनं शोणितपुरमिति यावत्। प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः'। उषाहरणे विष्णुपुराणात्। तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्या मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन उह्यमानः प्रेर्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्। वेशितः प्रवेशितः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः। पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखामवदत्। सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तया समगमयत्। कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया[2]। अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च,

१. 'भोगिभोजिना' इति पाठान्तरम्।

२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः–'अत्र यथोह्यमानो मनोनल इति शब्दश्लेषः। अन्यार्थश्लेषः। श्लिष्टविशेषणा चेयमुपमा। सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयो-

सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः ॥ ३२ ॥

(अब नलमें दमयन्तीके मनोभिलाषका वर्णन करते हैं—) जिस प्रकार सर्पभक्षी पक्षी अर्थात् गरुड़से ढोया जाता हुआ प्रद्युम्न बलपूर्वक विरोचन-पौत्र (अर्थात् बलि-पुत्र = बाणासुर) के अग्निसे व्याप्त (शोणितपुर नामक) नगरमें प्रविष्ट हुआ था, उसी प्रकार भोग-विलासकारी यौवन अवस्थासे प्राप्त कामदेव (कथाप्रसङ्गोंमें तथा बन्दिचारणादिके मुखसे सुने गये एवं चित्रादिमें देखे गये) नलसे आक्रान्त अर्थात् आकृष्ट दमयन्तीके मनमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—बलिपुत्र बाणासुरकी पुत्री 'उषा' ने स्वप्नमें प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको देखकर जागनेके बाद स्वप्नवृत्तान्तको 'चित्रलेखा' नामकी अपनी सखीसे कहा । योगपण्डिता चित्रलेखाने उसी रातको योगबलसे द्वारकापुरीमें जाकर सोते हुए अनिरुद्धको लाकर उसके साथ सङ्गम करा दिया । कुछ समयके बाद नारद मुनिसे बाणासुरके द्वारा अनिरुद्धके रोके जाने का समाचार पाकर अनिरुद्धको छुड़ानेके लिए बलराम तथा प्रद्युम्नके साथ श्रीकृष्ण भगवान् गरुड़पर चढ़कर शोणितपुर नामकी बाणासुरकी अग्निपरिवेष्टित नगरीमें गये । यह कथा विष्णुपुराणमें है ।

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना[1] मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ ३३ ॥

इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्थामाह—नृप इत्यादि । सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे बहुशः । 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' इत्यपादानाच्छस्प्रत्ययः । श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम् एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः । 'प्रियवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषद्' इत्यादिना तस्य मुम् । मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

राजाधिराज भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने (चारण-बन्दी आदिके मुखसे एवं कथाप्रसङ्गमें) अनेक बार सुने गये तथा अपनी रूप-सम्पत्तिके योग्य उस राजा (नल) में मनको विशेषरूपसे कामाज्ञाका वशंवद बना दिया अर्थात् दमयन्तीका मन उक्तरूप नलमें कामके वशीभूत हो गया ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु बन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥ ३४ ॥

क्त्यनुप्राणितेति सङ्करः' इति जीवातुः, इत्याहुः ।

१. '—नन्दिनी' । इति पाठान्तरम् ।

अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि । सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः । वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः । नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताऽभूदित्यर्थः । रञ्जेर्दैवादिकाल्लट् । अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः । जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः । नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः ॥ ३४ ॥

(अब चार (१।३४–३७) श्लोकों में दमयन्तीके नल-विषयक श्रवणानुराग नामक सात्त्विक भावका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती पिताकी सेवामें उपस्थित होकर प्रतिदिन वन्दियोंके (नृपस्तुतिके) अवसरोंमें अनुरक्त होती थी तथा उनके प्रत्येक राजाओंकी स्तुति करते रहनेपर नल (की स्तुति) को सुनती हुई (हर्षाधिक्यके कारण) रोमाञ्चयुक्त हो जाती थी ॥ ३४ ॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥ ३५ ॥

कथेति । मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः । अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि । 'भुवो भावे' लङ् । अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः ॥ ३५ ॥

आपसमें बातचीतके अवसरोंपर सखीके मुखसे तृण-(नरसल) के विषयमें भी 'नल' का नाम सुनकर कृशाङ्गी (वह दमयन्ती) तत्काल अन्य कथा (या—कार्य) छोड़कर ('यह सखी मेरे प्रियतम 'नल' की चर्चा कर रही है' ऐसे जानकर) उस कथाको सुननेमें कानोंको सावधान कर लेती थी अर्थात् उस सखी-वर्णित नल-चर्चाको ही सावधान होकर सुनने लगती थी ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यपेक्षयम् ॥ ३६ ॥

स्मरादिति । परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचनाच्चिश्चक्षाद्वाद्देवादिति च गम्यते । उभयथापि भयहेतूक्तिः । तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति नरसदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' । अभ्यपेक्षयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः । स च नलादन्यो नास्तीति

तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्षं शृणोतीति रागातिरेकोक्तिः। 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ॥ ३६ ॥

'मरे हुए (अत एव) निमेष-हीन नेत्रवाले कामदेव से मैं डरती हूँ, इस कारण दूसरा उदाहरण दो' ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने तरुणकी प्रशंसा करते हुए (सखी, या-वन्दी) लोगोंके द्वारा कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कराया। [कामदेव देवता होनेसे निमेषहीन हैं, उसे यहाँ मरा हुआ कहकर निमेष-हीन होने तथा उससे डरनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, क्योंकि मरे हुए व्यक्तिका नेत्र भी निमेष-हीन हो जाता है तथा उससे लोग डरते भी हैं। अथ च-जब कोई राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति मर जाता है, तब उसके स्थानपर नये विशिष्ट व्यक्तिका अभिषेक कर स्थापित किया जाता है, यहाँ मृत कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कर स्थापित किया गया है। किसी तरुणकी प्रशंसा करते हुए लोग जब सुन्दरतामें उसके साथ कामदेवकी उपमा देते थे, तब वह दमयन्ती उक्त प्रकारसे डरनेकी बात कहती थी और वे लोग कामदेवके समान दूसरे किसीके नहीं होनेसे उस युवकके साथ नलकी उपमा देते थे]॥ ३६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीतिकथा[1]मथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥ ३७ ॥

नलस्येति। निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान् पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः। अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्तिकथां नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः। चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः शानजादेशः। तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट्। अयञ्च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः ॥ ३७ ॥

निषध देशसे आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों तथा चारणोंसे वह दमयन्ती (उस देशका राजा कौन है ? प्रजापालन कैसा करता है ? उसमें कौन-कौन गुण हैं ? इत्यादि) बहानेसे नलके गुणोंको पूछती थी (इसके बाद उनसे वर्णित) नलकी कीर्ति-कथा (पाठा० कीर्ति-अमृत) को अच्छीतरह पानकर अर्थात् सुनकर (ऐसे अत्यधिक सद्गुणोंसे युक्त राजा नलको मैं किस प्रकार प्राप्तकर सकूँगी ? इस भावनासे) चिरकालतक उदासीन रहती थी [अथवा—(ऐसे अत्यधिक सद्गुणसम्पन्न राजा नलके प्रति मेरा अनुराग हुआ है, अत एव उन्हें पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगी, इस भावनासे) चिरकालतक आनन्दित होती थी। इस अर्थमें 'तस्थे+अविमनयमानया, पदच्छेद करना चाहिये]॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।

---

१. '—सुधा—' इति पाठान्तरम् ।

इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागञ्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह–प्रियमिति। सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत्। समाहारो द्विगुरेकवचनम्। तस्य जयिनो लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अखिलीकागृहभित्ति विलासवेश्मकुडये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

(अथ दर्शनानुरागके वर्णन प्रसङ्गमें प्रतिकृति–दर्शनका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती, 'लोकत्रय-विजयिनी सुन्दरतावाले किसी प्रिय तथा प्रिया अर्थात् स्त्री पुरुषको विलासगृहकी दिवालपर लिखो' ऐसा कहनेपर चित्रकारसे लिखे गये अपने तथा नलके रूप-साम्यको देखती थी। [उक्त कथनसे पुरुषोंमें नलकी तथा स्त्रियोंमें दमयन्तीकी सुन्दरताका तीनों लोकोंमें सर्वाधिक श्रेष्ठ होना सूचित होता है] ॥ ३८ ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावे च्वौ दीर्घः। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३९ ॥

सोती हुई वह दमयन्ती अभिलाषके द्वारा अपने पति बनाये गये नलको किसी रातमें नहीं देखती थी? अर्थात् प्रत्येक रातमें वह नलको स्वप्नमें देखती थी, क्योंकि स्वप्न पहले नहीं देखे गये पदार्थको भी पूर्वजन्मकी भावनासे मनुष्यको दिखला देता है। [यद्यपि दमयन्तीने नलको पूर्व श्लोक (१।३८) के अनुसार चित्रादिमें देखा था, तथापि प्रत्यक्षमें नहीं देखने के कारण इस श्लोकके उत्तरार्द्धके साथ कोई विरोध नहीं होता] ॥३९॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

निमीलितादिति। निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः। हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येन दर्शनमिच्छति' इत्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञान-

विरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव। तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—कदाप्यवीक्षित इति । अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः । अस्या भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । तथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्य कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

निद्राने बन्द हुए नेत्रद्वयसे तथा बाह्येन्द्रिय (नेत्रद्वय, या—अन्यान्य नेत्र-कर्णादि इन्द्रियों) के अपने विषयको ग्रहण करने (देखने या—देखने, सुनने आदि) के मौन होनेसे बन्द अर्थात् अपने विषयोंको सोनेके कारण ग्रहण नहीं करते हुए हृदयसे भी छिपाकर, कभी नहीं देखे गये अतिशय रहस्यरूप प्रसिद्धतम राजा नलको इस दमयन्ती के लिए दिखला दिया । [जिस प्रकार किसी अदृष्टचर अद्भुत रहस्यको कोई आप्त व्यक्ति दूसरोंसे छिपाकर किसी एक आप्ततम व्यक्तिके लिए दिखला देता है, या—कोई सुचतुरा दूती किसी प्रियतम नायकको दूसरोंसे छिपाकर नायिकाके लिए दिखला देती है; उसी प्रकार निद्राने भी कभी नहीं देखे गये एवं अतिशय रहस्यभूत उस प्रसिद्धतम राजा नलको उक्तरूप नेत्रद्वय तथा हृदयसे भी छिपाकर दिखला दिया अर्थात् दमयन्ती ने नलको स्वप्नमें देखा; किन्तु उसके नेत्रद्वयको तथा बाह्येन्द्रिय क्रियाशून्य हृदय को भी पता नहीं लगा] (सुषुप्ति अवस्थामें मनके व्यापारशून्य होनेसे दमयन्तीको किस प्रकार ज्ञान हुआ ? इसका उत्तर यह है कि—स्वप्नके पदार्थ बाह्येन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं, अतएव वे बाह्य भी नहीं हैं, तथा सुखादिके अन्तर्गत नहीं होनेसे आभ्यन्तरिक भी नहीं है। कारण अदृष्टसहकृत केवल अविद्यावृत्तिरूप सुषुप्तिके विषय हैं अतएव उस सुषुप्ति अवस्थामें आत्माका ही दर्शन होता है, क्योंकि आत्मरूपसे सर्वदा स्फुरण होनेमें कोई बाधा नहीं है। अथवा—नलमें भी दमयन्तीका अनुराग होनेसे उनकी प्राप्तिके विना विषयमात्र से वैराग्य होनेके कारण सुखकी सम्भावना नहीं होती, और सोकर जगनेके बाद 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी मालूम नहीं पड़ा' ऐसे अनुभवके होनेसे नलके दर्शनके विना दमयन्तीको वैसा अनुभव नहीं हो सकता था अतएव सुषुप्तिके बाद दमयन्तीने 'मेरे मनमें निरतिशयानन्दरूपसे वे नल ही स्फुरित हुए' ऐसा जाना ।) [अब इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं—निद्राजन्य अज्ञानसे परस्तुतिमें मौन हृदयहीन अर्थात् मूर्खसे और कलियुगसे बहिर्भूत, अत्यन्त गोप्य लक्ष्मीवाले तथा मानके योग्य हे नल ! विष्णु-भक्तोंके सहवासवाले, दुःख देनेवाले (दुष्टों) से नहीं देखे गये अर्थात् दुर्जन-संसर्गसे वर्जित (अतएव) नित्य उत्सववाले तुम मेरे पति होओ। पूर्व जन्ममें नल ही दमयन्तीके पति थे, इन्द्रादि पति नहीं थे, अतएव इन्द्रादिका त्याग कर दमयन्ती को नलसे ही उक्त रूप प्रार्थना करना उचित था ।] ॥ ४० ॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥ ४१ ॥

अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्त्तुपूर्त्तावपि ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत्। विभराम्बभूविरे वभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम्प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः॥

कामपीडित उस दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमें भी दिन बड़े होने लगे तथा ग्रीष्म ऋतुकी पूर्णता होनेपर भी रात्रियां बड़ी हो गयीं, यह आश्चर्य है। (हेमन्त ऋतुमें दिन तथा ग्रीष्म ऋतुमें रात्रि यद्यपि छोटी होती थी, तथापि कामपीडित उस दमयन्तीके लिए वे बड़ी प्रतीत होती थीं)॥ ४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

स्वेत्यादि। अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अशृणोत्। अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः॥ ४२॥

(अथ दमयन्ती-विषयक नलानुरागका वर्णन करते हैं—) अपने अर्थात् दमयन्तीके (या—नलके) सौन्दर्य-विषयक कीर्ति-समूहरूप मोतियोंकी मालाके बीचमें (या—नल के मनमें) गुँथनेवाले धागेकी शोभाको प्राप्त करते हुए तथा युवकोंके धैर्यको नष्ट करनेवाले इस दमयन्तीके गुण-समूहको किसी समय नलने भी लोगोंसे सुना। [सौन्दर्य-कीर्तिके शुभ्र होनेसे उसमें मोतीकी कल्पना की गयी है। मुक्तामालाको गूँथने के लिए बीचके धागेके समान जो दमयन्तीके गुण–समूह थे, वे नल के चित्तमें मालाके समान गुम्फित हो गये। नलने दमयन्तीके गुण–समूहको लोगोंसे सुना]॥ ४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम्॥४३॥

अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति-तमेवेति। ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा। तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः। तेन रागोदय उक्तः॥ ४३॥

तदनन्तर (नलकी शरीर–शोभाद्वारा अपनी) शरीर–शोभाके जीते जानेसे मात्सर्य-

युक्त कामदेव ने उसी अवसरको पाकर शरीरिणी अपनी अमोघ शक्तिके समान उस (दमयन्ती) से नलको जीतना चाहा। [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी प्रबल व्यक्तिसे पराजित होकर उसके साथ द्वेष करता हुआ अवसर पाकर अपनी अमोघ शक्तिसे उसे पराजित करनेकी इच्छा करता है] ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्ष्माभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४४॥

अकारीति । तेन क्ष्माभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चधैर्यव्ययाय उच्चधैर्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मजः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः। अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

इस राजा (नल) ने भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के आश्रित गुणोंको कान तक पहुँचाया अर्थात् दमयन्तीके गुणोंको सुना तथा उस (नल) के अत्यधिक धैर्यको नष्ट करनेके लिए बाण चढ़ाये हुए कामदेवने प्रत्यञ्चाको अपने कानतक खींचा । [दमयन्तीके गुणोंको सुनकर ही कामपीड़ित नलका धैर्य नष्ट हो गया] ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि[1] ॥४५॥

अमुष्येति । स स्मरः साहसी साहसकारः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः । अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वीं विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप् । तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपिशब्दार्थः । वृद्धयपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः । अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

उस समय धीर इस (नल) को जीतनेके लिए प्रत्यञ्चाको बाणोंसे युक्त करता हुआ अर्थात् प्रत्यञ्चापर बाणोंको रखता हुआ साहसी (अपनी शक्तिको-वास्तविक बलको बिना जाने महान् धीर नलको जीतनेके लिए उद्यत होनेसे विवेकहीन) कामदेवने तीनों लोकोंको जीतनेसे प्राप्त हुए अपने समस्त यशको सन्देहमें डाल दिया । (कामदेव तीनों लोकोंको जीतकर जो यशः-समूह पाया है, वह नलको नहीं जीतने पर नष्ट होने

१. '—विजयोर्जितानि' इति पाठः साधीयान्, इति 'प्रकाश'कारः ।

जाता, अतएव ऐसे बड़े कामको करनेके लिए उद्यत कामदेवको साहसी कहा गया है, तथा महान् धीर नलको एक बाणसे जीतना सर्वथा असम्भव होनेसे प्रत्यञ्चापर अनेक बाणोंका चढ़ाना कहा गया है) ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति। अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरवन्ध्येच्छतया। असोघसङ्कल्पत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः। व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ्। यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्मणि लुङ्। दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥४६॥

जिस कारण वैसा सुप्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य इस नलका धैर्यरूपी कवच अनङ्ग (कामदेव, पक्षा०—शरीरशून्य प्रतिभट) के पुष्पमय अर्थात् अतिकोमल बाणोंसे विदीर्ण (नष्ट) हो गया, उस कारण इस (नल) के साथ उस प्रकार (इन्द्रादि दिक्पालोंका त्याग कर) दमयन्तीका सङ्गम करानेवाले भाग्यके सफल मनोरथका ही वह विलास था, ऐसा जान पड़ता है। (अन्यथा महान् शूर-वीर नलका धैर्य शरीरहीन प्रतिभट कामदेवके पुष्पमय कोमलतम बाणोंसे कदापि नहीं नष्ट होता। अर्थात् दमयन्तीके प्रति अनुरक्त होनेसे कामपीडित नलका धैर्य कदापि भग्न नहीं होता, इससे पता चलता है कि भाग्यकी इच्छाको कोई भी नहीं टाल सकता। नल दमयन्तीके गुणोंको सुनकर कामपीडित होनेसे अधीर हो गये) ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ४७ ॥

अथ विधिमपि जितवतः किं विष्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति। किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः। सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम्। पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति' वैजयन्ती। लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र

वस्तवन्यथा भवेत् । कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' ॥ इति । लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोरभेदाध्यवसायाद्तिशयोक्तिः । एतत्त्रितयोपजीव- नेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायतताया हेतुत्वोत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्क इति व्यञ्जकप्रयोगा- द्वाच्येति ॥ ४७ ॥

और क्या ? जिस (कामदेव) के अस्त्रोंसे सन्तप्त पितामह (ब्रह्मा, पक्षा०—अतिशय वृद्ध, या—पिताके भी पिता) आज भी (शीतल होनेसे) कमलका आश्रय करते हैं, वे नल अपने शरीरकी छाया (शोभा) वाले (या—अपनेसे कम शोभावाले) उस कामदेवको लांघनेके लिए नहीं समर्थ हो सके, ऐसा मैं मानता हूँ । जिस कामदेवने अतिशय वृद्ध या अपने पिताके पिताको भी ऐसा सन्तप्त कर दिया कि बहुत समयके व्यतीत होनेपर भी वे आज भी सन्तापनिवारक शीतल कमलपर निवास करते हैं, वह काम अपने प्रतिद्वन्द्वी नलको नहीं सन्तप्त करेगा, यह कैसे सम्भव है ? तथा—नलका शरीर अत्यधिक सुन्दर है और कामदेव नलके शरीरकी परछाईं है, अतएव नल अपने शरीरकी परछाईं रूप कामदेवको नहीं लांघ सके, अर्थात् नहीं जीत सके, यह उचित ही है, क्योंकि लोकमें भी प्रबलतम भी व्यक्ति अपने शरीरकी परछांईको कदापि नहीं लांघ सकता—स्वशरीरच्छाया सबके लिए अनुल्लङ्घ्य ही रहती है । अथवा—नल अपनेसे कम कान्तिवाले कामदेवको नहीं लांघ (जीत) सके ? अर्थात् जीत ही लिया) ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८ ॥

उरोभुवेति । सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भाव इत्यतिशयोक्तिः । 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम् । जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्करः । दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः ॥ ४८ ॥

कृशाङ्गी वह दमयन्ती (अपनी) लज्जारूपिणी नदीके उच्चतम प्राकारको पार कर नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी, वह युवावस्थासे किये गये समीपमें नये मुक्ताहारसे (या—नवीन उपहार से युक्त) वक्षःस्थलपर उत्पन्न (स्तनरूप) दो कलशोंका प्रभाव क्या ? । (जिस प्रकार कोई दुर्बल व्यक्ति छातीपर दो कलशोंको रखकर उनकी सहायता नदीको पार कर अभीष्ट स्थानको पहुँच जाता है, उसी प्रकार मानो कृशाङ्गी दमयन्ती युवावस्थासे सम्पादित नये उपहाररूप (या—नवीन मोतियोंकी मालावाले कलशाकार विशाल स्तनद्वयकी सहायतासे अपनी (या नलकी) लज्जारूपि

नदीके उच्चतम प्रकारको (या—लज्जारूपिणी नदीरूप दुर्गको पारकर नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी) ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरतां चपलत्वं जनायापह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थे' त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतम्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी । 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप् । शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः । तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः ॥ ४९ ॥

कामदेवने अन्य लोगोंसे अपनी अधीरताको छिपाते हुए इस नलका जो कुछ किया, उस नलके जागनेको प्रत्यक्ष देखनेवाली रात्रि तथा चन्द्र के समान कोमल शय्या जानती थी । (अथवा चन्द्रसे मनोहर रात्रि एवं चन्द्रवत् शुभ्र होनेसे कोमल शय्या जानती थी) । [नलकी दमयन्ती–विरहजन्या अधीरताको दूसरे किसीने तो नहीं पहचाना । वे रातभर जागते हुए शय्यापर लोटते रहते थे] ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५० ॥

ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि । भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतितनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता । तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महोपाध्यायवर्द्धमानः । किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतञ्च अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याच्ञाया दुःखमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५० ॥

उस राजा नलने कामदेवसे अतिशय पीड़ित होकर भी विदर्भनरेश (भीम) से दमयन्ती को नहीं मांगा, क्योंकि मानी लोग प्राणत्याग भले ही कर देते हैं, किन्तु एकमात्र अयाचनाके नियमका त्याग नहीं करते । [अथवा—......मानी लोग सुख तथा प्राणोंका त्याग भले ही कर देते हैं,........। अथवा—मानी लोग प्राणोंका त्याग सुखपूर्वक कर देते है, किन्तु अयाचनाके श्रेष्ठ नियमका त्याग नहीं करते] ॥ ५० ॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वाससततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

मृषेति । अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वासप- रम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् छलेन जुगोप संववार । तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनाधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणाद् पललाप निह्नुते स्म । [1]अत्राङ्गगताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्गतश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालङ्कारः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

वे (नल) किसी वस्तुके विषयमें निरर्थक (झूठे ही) विषादके प्रदर्शित करके दमयन्ती-विरहजन्य निःश्वास-समूहको छिपाते थे, तथा चन्दनमें अधिक कर्पूर छोड़ने का बहानाकर अपनी पाण्डुताको छिपाते थे। (अथवा— वे व्यर्थ ही 'शिव' के अभिनय दमयन्ती-विरहजन्य ......, अर्थात् वास्तविकमें तो दमयन्तीके विरहसे उन्हें अधिक श्वास आते थे, किन्तु श्वास आनेपर 'शिव-शिव' कहकर लोगोंको यह प्रदर्शित करते थे कि 'मैं व्यर्थ ही किसी वस्तुके विषयमें शोक कर रहा हूँ, जो बीत गया, वह पुनः आनेवाला नहीं है' ......) ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥ ५२ ॥

शशाकेति । अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे बभाण, वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठक् आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः । 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु 'क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तु कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । मुमूर्च्छेति यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थः । 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिताः ॥ ५२ ॥

इस नलने (भावनावश) मिथ्यादृष्ट प्रिया (दमयन्ती) से जो कहा तथा वीणा बजानेवालोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओंके अवसरपर समाज (जन-सभा) में ही मूर्च्छित हुए, उसे भाग्य ही छिपा सका अर्थात् नलके उक्त भाषण तथा मूर्च्छाको संयोगवश लोग नहीं देख सके। (अथवा—मिथ्यादृष्ट प्रियासे जो नलने 'अये'! कहा, उसे नहीं छिपा सके ? अर्थात् छिपा ही लिया, तथा वीणावादकोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छना

१. अयमंशः म० म० पं, शिवदत्तशर्मटिप्पण्याधारेण वर्द्धितः ।

समय जो नल दमयन्तीके उद्देश्यसे मूच्छित हुए, उसे लोगोंने समझा कि वे वीणाके मूर्च्छनानन्दजन्य आनन्दातिशयसे नेत्रनिमीलनादि कर रहे हैं, अतः उसे भी कोई पहचान नहीं सका। अथवा—उक्त मूर्च्छनाके समयमें समाज ही मूच्छित (आनन्दातिशयसे तन्मय) हो गया, अतएव अलीकदृष्ट दमयन्तीके प्रति किया गया नलोक्त भाषण कोई नहीं सुन सका। [अथवा……उक्त मूर्च्छनाकालमें समाज मूच्छित हो गया, अतएव वह अलीकदृष्टदमयंतीके प्रति किये गये भाषणको नहीं सुन सका, किन्तु उसे वे नल कामदेवसे नहीं छिपा सके अर्थात् कामदेवने तो उनके उक्त भाषणको समझ ही लिया] ॥५२॥

अवाप सापत्रतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥ ५३ ॥

जितेन्द्रियोंके अग्रणी वे राजा नल उस समाज (जन-समूह) में अगोपनीय कामपराक्रम (कामजन्य पाण्डुतादि विकार) के क्रमशः स्पष्ट हो जाने पर लज्जित हो गये। [लोगोंने धीरे-धीरे नलके कामजन्य विकार को जान लिया] ॥ ५३ ॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥ ५४ ॥

ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम्? इत्यत आह—अलमिति। युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः नलमिदं लीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् दुहियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम्। अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि—स्मरः कामः। जनमिति शेषः। जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः। इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः। 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च'। 'अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः। अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण नलकी चपलताको नहीं रोक सके, क्योंकि कामदेव रति (अनुराग) होनेपर चपलताकी ही सृष्टि करता है, यही सृष्टिका नियम है। (अथवा कामदेव रतिकालमें चपलताकी ही सृष्टि करता है अर्थात् रतिकालमें सभी चञ्चल हो जाते हैं। अथवा—कामदेव 'रति' नामकी अपनी प्रियामें 'अनिरुद्ध' नामक पुत्रको ही उत्पन्न करता है, यही सृष्टिका नियम है)। [विवेकादिगुणयुक्त भी नल दमयन्ती-विरहजन्य कामपीडासे अतिशय चञ्चल हो गये] ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥ ५५ ॥

अथास्य मनोरथसिद्ध्यौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति-अनङ्गेति। स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्च्छाप्रलापादिस्मरविकारं विन संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहार व्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः। एतेन चापल सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥ ५५ ॥

(अब नलके उपवनगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं--) जब प्रयत्न करने पर भी नल समाज (जन-समूह) में दमयन्ती-विरहजन्य (पाण्डुता, कृशता, निःश्वास आदि कामचिह्नोंके विना नहीं रह सके अर्थात् उक्त कामचिह्नोंको लोगोंसे नहीं छिपा सके वे उद्यानमें विहार करनेके बहानेसे कुछ समय तक निर्जन देशमें रहनेकी इच्छा किये ॥५

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥ ५६ ॥

अथेति। अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्नि वयस्यः सवया' इत्यमरः। तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपारामभी द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। किलेत्यलीके। नि शकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः। 'क्रियार्थोपे' त्यादिना चतु दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

इस (उद्यान-विहारार्थ इच्छा करने) के बाद (कामपीडित होनेपर भी) अ शोभासे कामदेवको भर्त्सित करनेवाले, अपने अर्थात् नलके रहस्य (ये वस्तुतः वि रार्थ उद्यानको नहीं जा रहे हैं, किंतु कामचिह्नगोपनार्थ जा रहे हैं ऐसे गुप्त विषय जाननेवाले मित्रोंके साथ नगरके समीपवर्ती उद्यानके दर्शनेच्छुक उन नलने सवारी (घो लानेके लिये भृत्योंको आदेश दिया ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥ ५७ ॥

अमी इति। तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणःतस्य विभूषितमलङ् जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चा 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः। 'पुरुषहस्तिभ्यामण् चे' त्य त्ययः। अजस्रचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णी

---

१. 'पुरोपकण्ठं स वनम्' इति पाठान्तरम्। २. 'शोभित—' इति पाठान्तर

श्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः । एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेत-मश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर वे नौकर अलङ्कारोंसे विभूषित, श्वेतवर्ण, वेग तथा ऊँचाईमें भी पुरुषसे अधिक और निरन्तर चञ्चल खुराग्रमार्गोंसे अश्वशाला (घुड़सवार) के मध्यभागको चूर्णित करनेवाले घोड़ेको उस नलके लिए लाये ॥ ५७ ॥

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः ।
निगालगाद् देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि । अथानयनान्तरं स नलो हयमारुरोहे-त्युत्तरेणान्वयः । कथंभूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तक-पृष्ठभाजा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः । देवमणिः आवर्त्तविशेषः, 'निगालजो देवमणिरि'-ति लक्षणात् । दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा । केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥ ५८ ॥

(अब सात श्लोकों (१।५८–६४ से उक्त घोड़ेका वर्णन करते हैं—) इसके बाद गलप्रदेशस्थ देवमणि (दक्षिणावर्त घूमी हुई बालोंकी भौरीरूप 'देवमणि' नामक शुभलक्षण-सूचक चिह्न-विशेष) से कण्ठके बीचमें स्थित गर्दनके ऊपरी प्रदेशकी ओर जाते हुए मार्गसे निकले हुए तथा चन्द्रमाकी किरणोंके समान (उज्ज्वल वर्णवाले) केसर (अयाल) के बालोंकी किरणोंसे शोभित (या—पक्षिराज गरुडके समान आचरण करनेवाले) 'घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा आगामी (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिए । [देवमणि कौस्तुभ मणि तथा चन्द्रको भी कहते हैं, वे दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न हैं, अतएव देवमणिसे उत्पन्न केशरके बालोंका चन्द्रसहोदर होना उचित ही है] ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

अजस्रेति । अजस्रेण भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितै रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगाति-शयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा । चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम् । 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

तीव्र वेगको पढ़नेके लिए आये हुए अणुपरिमाणवाले, लोगोंके मनोंके समान निरन्तर भूतलको चूर्णित करनेसे उत्पन्न हुई धूलियोंके द्वारा चरणोंमें सेवित—(घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा अग्रिम (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये) । [उस घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनसे भी तीव्र था, अतः वे (लोगों के मन) उस घोड़ेके पास तीव्र वेगको सीखनेके लिए आकर शिष्यके समान उसके चरणोंकी सेवा करते हैं, ऐसा प्रतीत होता

था, क्योंकि लोगोंके मनका परिमाण भी अणुपरिमित है, वे निरन्तर भूमिपर पैर पटकने सूक्ष्मतम धूलिरूपमें उपस्थित थे। विद्याध्ययनार्थ शिष्यका गुरुके समीप जाकर उसके चरणों की सेवा करना उचित ही है। नलके घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनके वेग से भी अधि तीव्र था] ॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥ ६० ॥

चलाचलेति । पुनः, चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया 'चरिचलि पदीनामुपसंख्याना'च्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि'त्यमरः । मही भृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथावक्त हेतुमुत्प्रेक्षते–अलमिति । गिरा उक्त्या अलं, कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आश यमभिप्रायं वेद वेत्ति किल । 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । इति हेतोरिवेत्यनुषः मौनं तूष्णीम्भावमास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

ओष्ठाग्रकी अत्यन्त चञ्चलतासे अपने वेगके दर्पोंको मानो राजा नलसे कहनेके लि उत्कण्ठित, किन्तु 'मत कहो, ये नल स्वयं ही घोड़ेके अभिप्रायको जानते हैं' इस कारण मानो मौन धारण किये हुए-घोड़ेपर वे नल सवार हुए 'ऐसा अग्रिम' (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये ॥ ६० ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य । 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वान् रक्षन् युध्येत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः॥' इत्युक्तलक्षण रथिकविशेषस्येत्यर्थः । अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयती चक्रवर्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। साग कार्त्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः॥' इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच्, परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्व नाद्धेतोर्यशःसितं कीर्त्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम् । 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः । रवेरर्वतामश्वानामन्तर्ब लमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्त मिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्न वोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

महारथ (दश सहस्र प्रतिभट योद्धाओं के साथ अपने सारथि, अश्व, रथ तथा अपनी रक्षा करते हुए युद्ध करनेवाले) तथा चक्रवर्ती नलके मार्गमें दूसरेकी अपेक्षाके विना रथ ले जानेसे उत्पन्न यशसे श्वेत वर्ण, (अत एव) दाँतोंकी श्वेत किरणोंके बहाने (कपट) से

विशाल रथवाले तथा एक पहियेवाले सूर्यके 'मार्ग' अर्थात् 'आकाशमें' अतद्रूप अर्थात् दूसरे की अपेक्षासे रथको ले जानेवाले हरे रंगवाले उनके घोड़ोंको मुखके भीतरमें हँसते हुए ('घोड़ेपर नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिये)। [बड़े रथवाले तथा एक चक्र (पहिये) वाले सूर्यके मार्गमें उनके घोड़े दूसरोंकी सहायता से रथको ढोते थे, अतएव वे यशोहीन होनेसे हरे रंगके थे, किन्तु महारथ एकचक्रवर्ती (सार्वभौम) नलके मार्गमें यह घोड़ा बिना किसीकी सहायताके रथको ढोता था, अतएव इससे उत्पन्न यशसे मानों यह नलका घोड़ा श्वेतवर्ण था, इसी कारण यह सूर्यके अतद्रूप उन घोड़ोंको दांतोंकी शुभ्र किरणोंके बहानेसे मानों हँस रहा था]॥ ६१॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम्॥ ६२॥

सितेति। पुनः कथम्भूतम्? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषः चञ्चलस्येत्यर्थः। पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण च्छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव। अस्वामिनः कथञ्चामरयुग्ममिति भावः। पूर्ववदलङ्कारः॥

श्वेत कान्तिवाले तथा चञ्चल पूँछ तथा गर्दनके अयालों (बालों) के कपटसे डुलते हुए दो चामरों के चिह्नोंके द्वारा अपने अश्वराजत्वको प्रगट करते हुए—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए; ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकके साथ करना चाहिए)।, [राजाके उभय पार्श्वमें डुलाये जाते हुए श्वेतवर्ण दो चामरोंके समान पूँछ तथा गर्दनके श्वेतवर्ण हिलते हुए घोड़ेके बाल चँवर बन गये थे, जिससे वह अपनेको घोड़ोंका राजा अर्थात् श्रेष्ठतम घोड़ा होना प्रगट करता था]॥ ६२॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः॥ ६३॥

अपीति। पुनः कथम्भूतं स्थितम्? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गु रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः। द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्वितामुपेयिवांसं प्राप्तम्। तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम्। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः॥६३॥

वेगके अभिमानमें बलात्कारसे जीते गये गरुड़के सर्प-भक्षणरूप पुरुषार्थमें भी मुखमें पड़ी हुई लगाम (श्वेतवर्ण सर्पाकार) रस्सीसे प्रतिमल्लभावको प्राप्त—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिए)। [इस घोड़ेने तीव्र वेगमें पहले ही गरुड़को बलात्कारपूर्वक पराजित कर दिया था, किन्तु गरुडकी दूसरी शक्ति सर्पोंको भक्षण करनेमें भी थी, उस शक्तिको भी यह घोड़ा मुखमें पड़ी हुई लगामकी

सर्पाकार एवं श्वेतवर्ण रस्सीसे मानो गरुड़का प्रतिद्वन्द्वी होकर उन्हें जीत रहा था। घोड़े मुखमें पड़ी हुई लगामकी रस्सी दो सर्पोंके समान प्रतीत हो रही थी] ॥ ६३ ॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥ ६४ ॥

स इति । जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत्। क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः। शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेक योनित्वादिति भावः। उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, हयमारुरोह। अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा। सा च श्लिष्टविशेषणाः सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

सिन्धु देश (पक्षा०—समुद्र) में उत्पन्न (अत एव) चन्द्रमा के सहोदर (समान तथा उच्चैःश्रवाकी शोभाको हरण करते हुए उस (नौकरोंद्वारा लाये गये) घोड़ेपर समस्त राजाओंके विजेता तथा विशालनेत्र (या—ज्ञान) वाले (पक्षा०—पर्वतोंके विजेता तथा बहुत अर्थात् सहस्र नेत्रोंवालेसे) पृथ्वीके इन्द्र (पृथ्वीपति) राजा नल सवार हुए [समुद्रोत्पन्न चन्द्रमाके सहोदर उच्चैःश्रवापर सर्वपर्वतविजेता सहस्रनेत्र इन्द्रके समान सिन्धुदेशोत्पन्न, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण उच्चैःश्रवाकी शोभावाले उस घोड़ेपर सर्वनृपति विजेता विशालनयन भूपति नल सवार हुए] ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥ ६५ ॥

निजा इति । निजा आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारा भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम् अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रम्ये'त्यादिना युच्। तेनाश्वेन अन्यत्र तैः श्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितिं सूर्यं मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन्। यातेर्लङि झेर्जुसादेशः ॥ ६५ ॥

विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र (उच्चैःश्रवानामक) घोड़े चलनेवाले सूर्यके पीछे जिस प्रकार प्रकाशरूप अपने किरण चलते हैं, उसी प्रकार (तेज रूप ; विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र घोड़ेसे चलनेवाले उस मनुजेश (नल) के पीछे अपने घुड़सवार चलने लगे ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६ ॥

चलन्निति । वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे'

पेशल' इत्यमरः । स नलो महारथमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः । प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः । नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः । लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

तीव्र वेगवाले घोड़ेको (अपने चढ़नेसे) अलङ्कृत कर चलते हुए तथा अपने वाहन घोड़ेके योग्य वेषसे सुन्दर उस नलको अतिशय हर्षके कारण निमेषहीन नेत्रके पलकोंवाले अर्थात् हर्षातिशयसे निमेष-हीन होकर नगरवासियोंने देखा ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

क्षणादिति । अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः । प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति-क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान एवेत्यर्थः । बहिः पुरः पुराद्बहिः स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥

(आह्लादक होनेसे) चन्द्रमाके समान कान्तिवाले तथा इन्द्रके समान सामर्थ्यवाले वे नल वायु द्वारा भी अध्ययन किये जाने योग्य वेगवाले अर्थात् अतिशय तीव्रगामी घोड़ेसे नागरिकोंकी दृष्टि-वृष्टिके साथ ही क्षणमात्रसे नगरसे बाहर हो गये ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

तत इति । ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः । परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः । नलस्य नासीरगते सेनाप्रवर्त्तिनी 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यमरः । सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः । वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायोधनं संख्यमि'त्यमरः ॥६८॥

इस (नलके नगरसे बाहर निकलने) के बाद 'सम्हालो, मारो' ऐसा कहते हुए, परस्पर तोमरादि अस्त्रोंको उठाये हुए, नलके सेनामुखमें स्थित घुड़सवारोंके दो दल कौतूहलवश झूठे युद्धका प्रदर्शन करने लगे ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥ ६९ ॥

प्रयातुमिति । इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः । अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः । तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः । 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः । इती-

वेति । इतीव इति मत्वेत्यर्थः । इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात् । क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ॥ ६९ ॥

'हमलोगोंके चलनेके लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कितने कदम) होगी ? अर्थात् अत्यन्त थोड़ी होगी, इससे यह समुद्र भी स्थल बन जाय', मानो ऐसा विचारकर अपने वेगके अभिमानी घोड़ोंने समुद्रको पूरा करने (सुखाने) में समर्थ धूलिको उड़ाया ॥ ६९ ॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि यस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रितानन्नैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥ ७० ॥

हरेरिति । यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिश्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः । पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यमरः । 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः । अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः । हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु'इत्यमरः । उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्धे नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्त्ति निवर्त्तितम् , भावे लुङ् । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलंघनस्य सम्भवादिति भावः ॥ ७० ॥

हरि (एक विष्णु, पक्षा०—एक घोड़े) के एक पैरने जिस आकाशका आक्रमण किया, उस आकाशका हम अनेक हरियों (घोड़ों, पक्षा०—अनेक विष्णुओं) के चार पैरोंसे आक्रमण करनेमें लज्जाकी बात है, मानो ऐसा विचारकर आधे आधे आकाशमें पैरोंको बढ़ाये हुए अधोमुख वे घोड़े (आकाशके आक्रमण करनेसे) निवृत्त हो गये । [लोकमें भी एक व्यक्तिके द्वारा किये गये कामको अनेक व्यक्तियोंके द्वारा करनेपर उन्हें लज्जा होती है और वे इसी कारण अधोमुख होकर उस कार्यको करनेका विचार छोड़ देते हैं] ॥ ७० ॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु [1]श्राद्धतयेव सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥ ७१ ॥

चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चरेष्टच् , सिन्धुदेशभवाः सैन्धवाः अश्वाः, 'हयसैन्धवसप्तय'इत्यमरः । 'तत्र भव'इत्यण्प्रत्ययः, तत्सम्बंधिनोऽपि सैन्धवाः 'तस्येदमि'त्यण् । ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः । अवाप्य

१. 'श्राद्धतयैव' इति पाठान्तरम् ।

तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽवाहितसमुच्चयार्थः । अन्यत्र मण्डलीं मण्डलासनमित्यर्थः । 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

उस राजा नलके सेनामें रहनेवाले तथा सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारोंने उस बाहरी क्रीडास्थलको प्राप्तकर बहुत-से घोड़ोंको भी (अर्थात् घोड़ोंके साथ स्वयं भी) उस प्रकार मण्डलाकार गति-विशेषसे घुमाया अर्थात् गोलाकार मैदानमें घोड़ोंका चक्कर कराया, जिस प्रकार 'जिन'के कथनमें श्रद्धाभावसे ही सिन्धुदेशोत्पन्न जिनभक्त विहारस्थान (देव-मन्दिर) को प्राप्तकर मण्डली कराते हैं अर्थात् मण्डलाकारसे स्थित होते हैं । [जिन भक्त विहार (अपने देवमन्दिर) में जाकर मण्डलाकार बैठते हैं, या सप्तधान्यमयी मण्डली को कराते हैं, ऐसा उनका सम्प्रदाय है । नलके सैनिक सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारों ने घुड़दौड़के मैदानमें जाकर घोड़ोंको (घोड़ोंपर चढ़े रहनेके कारण स्वयं भी) चक्कर कटवाया अर्थात् गोल मैदानमें घुमाया] ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधार्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽभण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥ ७२ ॥

द्विषद्भिरिति । अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः । दिशो विलङ्घिताः । अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः । इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः । तुरङ्गमैर्धाराख्यां जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् । गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः । अवधीर्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः । स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपदे'त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि । मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागमः ॥

इस (नल) के शत्रु ही (प्राणरक्षार्थ युद्धभूमिसे भागकर) दिशाओंको लाँघ गये हैं तथा यशों (इस नलकी कीर्तियों) ने ही समुद्रको गोष्पद (गौके पैरके गढ़ेके समान अतिशय छोटा) बना दिया है, मानो ऐसा विचारकर घोड़ोंने 'धारा' (आस्कन्दित = सरपट दौड़ना आदि ५ गतिविशेषों) को छोड़कर मण्डली करने (चक्कर काटने) की शोभासे ही पृथ्वीको सुशोभित किया । [इस श्लोकसे नलके शत्रुओंका इनके भयसे भागकर दिशाओंके अन्ततक पहुँचना तथा यशःसमूहका समुद्रके पारतक जाना सूचित होता है । घोड़ोंकी गतियोंके विषयमें विशेष जिज्ञासुओंको अमरकोषकी मत्कृत 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी अनुवाद (२।८।४८-४९) में देखना चाहिए] ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।

मरुत् किमद्यापि न तासु[1] शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ॥७३॥

अचीकरदिति । नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमरः । या अमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ् । तासु अमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'पाशादिभ्यो यः' । अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचंक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य न शिक्षते किन्वाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा । शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः । वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भावः ॥७३॥

नलने अपने छत्रके नीचे घोड़ेसे जिन सुन्दर मण्डलियोंको कराया, वायु आज भी वायु-समूहरूप गोलाकार भ्रमणोंको विस्तृतकर उन मण्डलियोंके विषयमें नहीं सीखता है क्या ? अर्थात् बहुत दिन बीत जानेपर आज भी वायु अश्वकृत उन मण्डलियोंको सीखनेका अभ्यास कर ही रहा है, तथापि यथार्थतः उन्हें नहीं सीख सका है । [ग्रीष्म ऋतुमें गोलाकार उड़ते हुए वायु-समूह (बवंडर) को यहां घोड़ेके मण्डलाकार चक्करके सीखनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥ ७४ ॥

विवेशेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लवे' इत्यमरः । तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया स्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः । विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र ढवयोरभेदात् विलासकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसांनिधिमब्धिनमिव विवेश ॥ ७४ ॥

तदनन्तर राजा नल नवपल्लवोंकी लालिमासे युक्त तथा सघन छायावाले क्रीडोपवनको जाकर शीघ्र धैर्यकी इच्छासे (उस विलास-वनमें मुझे धैर्य प्राप्त होगा, इस अभिलाषासे) उस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार विष्णु भगवान् विद्रुमकी लालिमासे मिश्रित तथा स्वयं मेघकी समान शोभावाले, क्षीरसमुद्रको प्राप्तकर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करते हैं, (अथवा—जिस प्रकार सिंह पल्लवोंकी लालिमासे युक्त सघन छायावाले वनको प्राप्तकर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करता है) ॥ ७४ ॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ७५ ॥

वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं काननो

१. 'ताः सुशिक्षते' इति पाठान्तरम् ।

पान्तलीमाम् उदकप्रान्तपर्यन्तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। सस्पृहं साभिलापं यथा तथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः 'उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः॥ ७५॥

(किसी जाते हुए इष्ट बान्धवके) पीछे जाते हुए बन्धुसमूहके समान नगरवासियोंके नेत्र-समूह (नलको देखनेके लिए) वनतक जाकर क्रमशः उस नलके दृष्टिसे ओझल हो जानेपर लौट आये। [जिस प्रकार कोई इष्ट-बान्धव कहीं जाने लगता है तब उसके बन्धु-समूह वनतक पहुँचानेके लिए उसके साथ जाते हैं और उस इष्ट बान्धवके दृष्टिसे ओझल हो जानेपर लौट आते हैं, उसी प्रकार नगरवासियोंके नेत्र-समूह भी नलको देखनेके लिए सस्पृह हो वनके समीपतक गये, और नलके दृष्टिसे ओझल (बाहर) हो जानेपर लौट आये अर्थात् जबतक नल वनके पास नहीं पहुँचे थे तबतक नागरिक लोग नलको देखते थे, किन्तु जब वे दृष्टिसे बाहर हो गये, तब नागरिक विवश हो उधर देखना भी छोड़कर लौट गये]॥ ७५॥

ततः प्रसूने च फले च मंजुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम्॥ ७६॥

तत इति। ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत्, 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः॥ ७६॥

तदनन्तर अर्थात् वनमें प्रवेश करनेके बाद राजा नलने मनोहर फूल तथा फलपर सामने दिखाई जाती हुई अङ्गुलिवाले (अङ्गुलिसे मनोहर फूल तथा फलको दिखलाते हुए) वनपालके हाथसे बतलायी जाती हुई उपवनकी सुन्दरताको देखा॥ ७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥७७॥

फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी'ति वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। 'वृद्ध-

संघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः । 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः । अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम् , अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः । कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ७७ ॥

पक्षियोंके अत्यन्त उड़नेके कारण वायुसे (पक्षा०—अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात-दोषसे) हिलते हुए पल्लवरूपी हाथमें फल-फूलोंको लेकर स्थित, वनके वृक्षोंने मानो महर्षियोंके समूहसे उस (राजा नल) के अतिथि-सत्कारको करनेके लिए सीखा है। [अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात-दोषसे हिलते हुए हाथपर फल-फूल लेकर नलका आतिथ्य करनेवाले वनवासी वृद्ध महर्षि-समूहसे मानो वनके वृक्षोंने भी पक्षियोंके अधिक उड़नेसे उत्पन्न हवासे कम्पित पल्लवरूप हाथमें फल-फूलोंको लेकर नलका आतिथ्य करना सीखा है । वृद्ध-महर्षि-समूहसे वनमें रहकर विद्या सीखना लोकव्यवहारमें भी श्रेष्ठ माना जाता है । इस श्लोकसे उक्त विलास-वनमें वृद्ध महर्षि-समूहका निवास करना तथा वृक्षोंका पक्षियों एवं फल-फूलसे युक्त होना सूचित होता है] ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥ ७८ ॥

विनिद्रेति । विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः । आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलंकृञि'त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः । दुर्यशोऽपकीर्तिं दधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श । अर्हस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः । अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादपह्नुत्यलङ्कारः । 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥ ७८ ॥

वन-(दर्शनके विषय) में कुतूहलयुक्त उस (नल) ने विकसित पत्र-समूहपर बैठे हुए भ्रमरोंके कपटसे चन्द्रचूड (शिवजी) के द्वारा त्यक्त होनेसे प्राप्त तथा दिशाओंमें फैलते हुए अयशको धारण करते हुए केतकी-पुष्पको देखा । [केतकीके विकसित पत्तोंपर गन्धलोभसे भ्रमर नहीं बैठे थे किन्तु वे शिवजीके द्वारा त्यक्त होनेसे फैलनेवाले काले-काले अयश थे, उन्हें धारण करते हुए केतक-पुष्पको नलने देखा । बड़ोंसे परित्यक्त व्यक्तिका अयश होता है] ॥ ७८ ॥

पौराणिकी कथा—रामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा सीताजीके साथ गया में गये तो पितृश्राद्धकी सामग्री लानेके लिए लक्ष्मणजी को नगरमें भेजा तथा स्वयं फल्गु नदीके किनारे पितरोंका आवाहन कर दिये । जब लक्ष्मणजी सामग्री लेकर नहीं आये और उनको गये बहुत विलम्ब हो गया तब स्वयं श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजीको वहीं छोड़कर सामग्री लानेके लिए चल दिये । उन दोनोंमें कोई भी श्राद्धकी सामग्री लेकर वापस नहीं लौटा था, इसके पहले ही रामचन्द्रजीके पितरोंके हाथ श्राद्धपिण्ड लेनेके लिए बाहर निकले, यह

देख श्राद्धसामग्री तथा उन दोनोंमें किसी एकके भी नहीं रहनेसे सीता घबड़ायीं कि अब पितरोंको श्राद्धपिण्ड किस प्रकार दिया जाय ? उसे घबड़ायी हुई देखकर आकाशवाणी करते हुए पितरोंने कहा कि 'हे वत्से ! श्राद्धसामग्री नहीं होने पर भी तुम मत घबड़ाओ और बालूका पिण्ड बनाकर हम लोगोंका श्राद्ध करो'। सीताने वैसा ही किया तथा अपने इस श्राद्धकार्यमें वहां उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकीको साक्षी बनाया। विधिवत् बालूका श्राद्धपिण्ड पाकर पितरोंके हाथ जब अन्तर्हित हो गये तब रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी श्राद्धसामग्री लेकर आये और सीताजीने पूर्वोक्त चारों साक्षियोंके सामने बालूके पिण्डद्वारा पितरों की आज्ञासे श्राद्ध करनेकी बात उनसे कही, किन्तु उन चारों साक्षियों ने 'हमें कुछ भी मालूम नहीं है' कह दिया और पितरों ने पुनः आकाशवाणीकर सीताजीके दिये हुए श्राद्धपिण्डको स्वीकार करनेका वृत्तान्त कहकर रामचन्द्रजीको पुनः श्राद्ध करनेसे निषेध किया। तब सीताजीने—तुम आगे (मुख) भागसे अपवित्र हो तो, तुम सर्वभक्षी होवो, तुम निर्जल (अन्तर्जल) होवो तथा तुम शिवजीका प्रिय न रहो' ऐसा शाप क्रमशः उन गौ, अग्नि, फल्गुनदी तथा केतकी-पुष्पको दिया। कहा जाता है कि उसी समय से उस स्थानपर बालूके पिण्डसे ही पितरोंके श्राद्ध करनेकी प्रथा चालू हुई। यह कथा शिवपुराणमें आयी है।

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

अथ त्रिभिः कैतकोपालम्भमाह—वियोगेत्यादि। कैतक! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम्। विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः। ततः कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयते विगर्ह्यसे। द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः॥ ७९ ॥

कामदेव काँटोंसे क्रूर (भयङ्कर) कर्णयुक्त बाणरूप तुमको वियोगियोंके हृदयमें चुभाता है, इस कारण से (अथवा—कर्णयुक्तबाण होनेसे, अथवा-उस वियोगि-हृदयसे) कष्टसे निकाले जाने योग्य होनेसे उन विरहियोंको मारनेवाले तुमको कामदेव-शरीरदाहक (शिवजी) निन्दित (त्यक्त) करते हैं—('इस प्रकार क्रोधसे नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की' ऐसा अग्रिम (१८१) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये)। [कामदेवके सहायक तुम्हारा त्याग करना कामदेवदाहक शिवजी के लिए उचित ही है] ॥ ७९ ॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।

स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥ ८० ॥

त्वदिति । त्वदग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः । दुर्यशांसि अपकीर्त्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः । किञ्चेति चार्थः करपत्रमूर्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमरः । पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारूणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारूणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥ ८० ॥

कामदेव तुम्हारे अग्रभाग (नोक) रूपी सूईकी सहायतासे कामी स्त्री-पुरुषों के दुष्कीर्तिरूप वस्त्रोंको सीता है, तथा वह कामदेव आरे (लकड़ी चीरनेका अस्त्रविशेष) के समानाकार तुम्हारे पत्तोंसे वियोगियोंके हृदयरूप लकड़ीपर अवश्य ही आरेके समान व्यवहार करता है—('इस प्रकार क्रोधसे नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।८१) श्लोकके साथ करना चाहिये) [केतकी-पुष्पके देखनेसे कामी एवं विरही स्त्री-पुरुषोंका धैर्यभङ्ग होता है, जिसके कारण वे दुष्कीर्ति पाते हैं, तथा आरेके समान आकारवाले केतकी-पत्रको देखनेसे उनका हृदय आरेसे चीरे जाते हुएके समान विदीर्ण होता है] ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजा परं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन केतकम् ॥८१॥

धनुरिति । केतक ! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः । 'वा संज्ञायामि'त्यनङादेशः । अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनःपुनः धूल्युद्धाचितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्तात्लटः शत्रादेशः । अथ भीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्रस्तचापः स मां किं कुर्यादिति भावः । इतीत्थं श्लोकद्वयोक्तिरिति तेन राजा क्रुधा केतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटने अघोष्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

पुष्पधन्वा (कामदेव) धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त होकर तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त करता हुआ दमयन्तीमें अत्यासक्त मेरे मनको बाणोंके अधीन कर रहा है, ऐसे क्रोधसे उस नलने उस केतकी-पुष्प की निन्दा की । [पुष्पमय धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त कामदेव यदि तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त नहीं करता तो लक्ष्यभ्रष्ट होनेसे मुझे बाणपीड़ित नहीं कर सकता, अतएव मेरे काम-बाणसे पीड़ित होनेमें तुम्हीं मुख्य कारण हो ऐसा क्रोधसे कहते हुए नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की । धनुषको बहुत समय तक पकड़े रहनेसे जब धनुर्धारीका हाथ पसीजने लगता है, तब वह हाथमें धूलि लगाकर उसे सूखा कर लेता है और वैसा करनेसे वह लक्ष्यका ठीक-ठीक वेध करता है] ॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

विदर्भेति । 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे । दोहदश्चासौ धूपश्च तदुक्तं 'मेषामिपाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविक्काथेन संसिक्ता धूपिता तत्तरोमभिः । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥' इति । तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः । अलमत्यर्थन्तपस्य तस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातॄन् , धेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणान्नानुवर्त्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः । अत एव काशिकायां केचिदुपसर्गं इति नानुवर्त्तयन्तीति । अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा । महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

उस नलने दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर दमयन्तीके स्तनद्वयकी विशालताको पानेके लिए अधोमुख हो धूमका पान करनेवाले, तप करते हुए घड़ोंके समान फलोंको अच्छी तरह देखा । [दमयन्तीके स्तन बहुत बड़े-बड़े थे, घटाकार अनारके फ़ल भी चाहते थे कि हम भी दमयन्ती स्तनों के समान ही बड़े हों, अतएव वे दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर अधोमुख हो लटकते हुए ऐसे ज्ञात होते थे मानो वे दमयन्तीके स्तनोंके समान बड़े होनेके लिए अधोमुख हो अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हों, ऐसे उन फलोंको नलने देखा । लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी बड़े अभीष्टकी सिद्धिके लिए अधोमुख हो धूम का पान करता हुआ घोर तपस्या करता है । पेड़में अच्छे फल लगनेके लिए विविध द्रव्यों द्वारा वृक्षके नीचे दिये गये धूमको 'दोहद' कहते हैं] ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

वियोगिनीमिति । असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ई गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः । उदीता उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम् । 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके' इति वैजयन्ती । फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत् । रूपकालङ्कारः । विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते ॥ ८३ ॥

उस (नल) ने पक्षीयुक्त, दोहदप्राप्तिसे कण्टकित तथा मध्यमें विदीर्ण होनेसे लाल फलमें दानोंको खानेके लिए सुग्गोंके प्रविष्ट होते हुए चोंचोंसे युक्त दाडिमी (अनार) को देखा, जो प्रियका स्मरण होनेसे रोमाञ्चयुक्त तथा स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे रक्तवर्ण हृदय में कामदेवके पलाश–पुष्पमय बाण जिसमें प्रविष्ट हो रहे हैं ऐसी विरहिणी नायिकाके समान प्रतीत होती थी। [नलने दाड़िमीको देखा, जो पक्षियोंसे तथा दोहद (धूपादि) प्राप्त होनेसे कण्टकोंसे युक्त थी, एवं जिसके विदीर्ण हुए फलके मध्यमें दानोंको खानेके लिए प्रविष्ट होते हुए सुग्गोंके चोंच ऐसे मालूम पड़ते थे मानों प्रिय–स्मरण से रोमाञ्चयुक्त विरहिणीके स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे लालिमा युक्त हृदयमें कामदेवके पलाशपुष्परूप बाण घुस रहे हों। अथवा—परमात्माके साक्षात्काररूप फलका बोधक (तुरीयावस्थारूप) स्थानसे च्युत पूर्वकालमें विषयोंमें अनुरागी हृदयमें प्रवेश करते (स्थिर होते) हुए उपदेशसे हटाये जाते हैं। कामदेवके पलाशपुष्पमय बाण जिससे ऐसी, तथा परमप्रिय सच्चिदानन्दके स्मरणसे (शीघ्र प्राप्तिकी आशासे हर्षातिशय होनेके कारण) रोमाञ्चयुक्त विशिष्ट योगिनीको (या—उक्तरूपा योगिनीके समान दाड़िमीको) नलने देखा] ॥ ८३ ॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डनि कालखण्डजम् ॥८४॥

स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः–'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति । वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसां कृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः ॥ ८४ ॥

उस (नल) ने कामदेवको अर्द्धचन्द्राकार बाणके समान, वियोगियोंके हृदयको विदी[र्ण] करनेवाले (अतएव) अतिशय दुर्बल (घर आते हुए विरही) पथिकोंके मांसका भक्ष[ण] करनेसे वस्तुतः पलाश अर्थात् अन्वर्थ 'पलाश' नामवाले वृक्षपर कालखण्ड (वियोगियों[के] दक्षिण हृदयके कृष्णवर्ण मांस) से उत्पन्न वियोगि–हृदयके अंशके समान वृन्त (फूल[की] भेटी = ऊपरी डण्ठल—जहाँसे फूल टूटकर अलग होता है) को देखा। (पलाशवृक्ष[पर] अर्द्धचन्द्राकार फूल लग रहे थे, वे कामदेवके वियोगि–घातक अर्द्धचन्द्राकार बाणके तु[ल्य] मालूम पड़ते थे, उन फूलोंके ऊपर कृष्णवर्ण वृन्त ऐसे मालूम पड़ते थे कि कामदेवने [उन] विरहियोंके दाहिने पार्श्वमें अर्द्धचन्द्राकार किंशुक–पुष्पमय बाणसे प्रहार किया है, [उस] बाणमें उन विरहियोंके दक्षिण पार्श्वका कृष्णवर्ण मांसका कुछ भाग सम्बद्ध हो ग[या] (सट गया) है। तथा उन पलाशपुष्पोंको देखनेसे वसन्तका आगमन मालूम कर विर[ही]

पथिक कामपीडित होकर दुर्बल हो रहे थे, अतएव 'पलमश्नाति इति पलाशः' (मांसको जो खाता है, उसे 'पलाश' कहते हैं) इस विग्रहसे उक्त पलाशवृक्षका नाम सार्थक सा हो रहा था] ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दशीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते । दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तरुणस्त्री कान्ता च गम्यते । नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन लता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः। उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यादादरश्च । 'दरोऽस्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती । अत्रप्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते' इति लक्षणात् ॥

(नायकरूप) वायुसे चुम्बित (स्पृष्ट), मकरन्दकणोंसे रोमाञ्चित शरीरवाली, ईषद्विकसित एवं शोभमान कलिकाओंवाली, कुछ कम्पायमान नवीन (पल्लववाली) लताको भय (विरहियोंको दुःखद होनेसे उक्त लताको देखनेसे उत्पन्न डर) तथा (सुन्दरता होनेसे) आदरसे युक्त राजा (नल) ने नेत्रसे मानो उस प्रकार पान किया अर्थात् देखा, जिस प्रकार कस्तूरी, कपूर, चन्दनादिकी सुगन्धिसे युक्त नायक द्वारा चुम्बित, प्रियस्पर्शसे रोमाञ्चित अङ्गोंवाली, थोड़ा स्मित करती हुई तथा सात्त्विक भावके उत्पन्न होनेसे कुछ कम्पनयुक्त नायिकाको (परस्त्री होनेसे) भयपूर्वक तथा सुन्दरी होनेसे आदरपूर्वक कोई दूसरा नायक देखता है। (अथवा—बालक-शैशव के लेशसे रहित अर्थात् युवावस्थायुक्त तरुणसे चुम्बित…) ॥ ८५ ॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥ ८६ ॥

विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यणप्रत्ययः पन्थादेशश्च । त एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः । तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः । विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

पथिकरूपी पतङ्गोंकी (हिंसासे, भ्रमररूपी कज्जलके कपटसे पापकर्मको एकत्रित करती

हुई कामदेवकी) बलि-दीपिकाओं (पूजार्थ दीपकों) के समान चम्पककी कलिकाओंके समूहको उस (नल) ने देखा। [चम्पककलियोंके कामोद्दीपक होनेसे उन्हें देखकर विरही पथिक उस प्रकार मर जाते थे जिस प्रकार दीपककी लौपर पतङ्ग (फुनगे) मर जाते हैं, उन कलिकाओंपर बैठनेवाले भ्रमर उन दीपकोंके कज्जलके समान मालूम पड़ते थे, उसीको कविने पथिकोंके मरनेसे उत्पन्न अयशकी उत्प्रेक्षा की है, उन्हें कामदेवके पूजा-दीपकोंके समान नलने देखा। दीपककी लौ के समान चम्पाकी कलियाँ भी पीली होती हैं। कुछ लोगोंका मत है कि चम्पाके फूलपर भ्रमर नहीं बैठते और उसपर बैठते तो हैं, किन्तु मर जाते हैं, ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, यह 'प्रकाश' कारका कथन है] ॥ ८६ ॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

अमन्यतेति। असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी। अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्यादिना च्व्यर्थे ख्युन्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः। तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

इस (नल) ने फूलोंके मध्यगत परागको वियोगियोंको अन्धा करनेवाला, पूर्वकालमें कामदेवके द्वारा शिवजीपर छोड़े गये (पुष्पमय) बाणोंमें लगा हुआ शिवजीके शरीरका भस्म माना। [भस्म आँखमें पड़नेपर लोगोंको अन्धा कर देता है तथा फूलोंके परागोंको देखकर विरही भी कामपीड़ित हो अन्धे (विवेकहीन) हो जाते हैं] ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

पिकादिति। वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः। उदञ्चत्करुणं विकसद्वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः। अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूप-हस्तविस्तारिणीं तयोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः। सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्। स्थलपद्मिनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः[1], 'स्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्। ददर्श ॥ ८८ ॥

१. इयं भ्रममूलिकोक्तिः स्वादिषु 'षुञ् षिञ् शिञ् डुमिञ् चिञ् स्तृञ् कृञ् वृञ् धूञ् दु टुदु हि पृ स्पृ आप्लृ शक्लृ राध साध' इत्येतेषामेव धातूनां परिगणनात्। ततो दीर्घादूङः स्वादित्वेनौदित्वान्निष्ठानः' इति 'प्रकाश'व्याख्यानमेव सदित्यवधेयम्।

(कामपीड़ित होनेसे) कृश नलने (मल्लिकाके समान पुष्पवाला) करुणवृक्ष जिसमें विकसित हो रहे हैं, ऐसे तथा भौंरे मानो 'हुँकारी' भर रहे हैं, ऐसे उनके गुञ्जनोंके द्वारा कोयलोंसे विरहियों की दशा को सुनते हुए वनमें नलकी अधीरतासे (अथवा—अनादरसे) पुष्परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको देखा। [जिसमें करुणवृक्ष फूल रहे थे, कोयल मानो विरहियोंकी दशा कह रही थी तथा गूँजते हुए भ्रमर मानो 'हूँ-हूँ' कहकर 'हुँकारी' भर रहे थे; ऐसे वनमें (तुम्हें ऐसा करना अनुचित है इस भावनासे मानो) पुष्परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको कामपीड़ासे दुर्बल नलने देखा) लोकमें भी किसीको अनुचित कार्य करते हुए देखकर दूसरा सज्जन व्यक्ति अनादरसे हाथ फैलाकर उसे निषेध करता है। वनमें करुणवृक्ष विकसित हो रहे थे, कोयल कुहक रही थी, भ्रमर गूँज रहे थे तथा स्थलकमलिनी फूल रही थी, इन सबोंको कामपीड़ित नलने देखा] ॥ ८८ ॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

रसालेति। अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुंङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः। वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनि-मीमे'त्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः। रसालसालश्चूतवृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टः। द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८९ ॥

इस (नल) ने भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके समन्ततः गुञ्जनरूपी हुङ्कारवाले आमके पेड़को वायुसे चञ्चल मञ्जरियों (बौरों) द्वारा विरहिजनको डरवाता हुआ-सा देखा। [आमके पेड़पर बौरें लग गयी थीं, वे वायुसे धीरे-धीरे हिल रही थीं, उनपर भौंरे उड़ते हुए गूँज रहे थे; जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यह आमका पेड़ भौंरोंके गुञ्जनरूपी हुङ्कारोंसे मञ्जरीरूपी हाथको हिला-हिलाकर विरहियोंको तर्जित कर (डरा) रहा है] ॥ ८९ ॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥ ९० ॥

दिने दिने इति। रे इति हीनसम्बोधने। त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धिरि'ति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छं च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट। स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः ॥ ९० ॥

'रे पथिक ! तुम प्रतिदिन अधिक दुर्बल होवो, बार-बार मूर्च्छित होवो और सन्ताप प्राप्त करो' इस प्रकार विरही पथिकोंको शाप देते हुए रक्तवर्ण नेत्रवाले पिक पक्षियों (पक्षा०—क्रोधसे लाल नेत्र किये हुए ब्राह्मणों) को नलने खेदपूर्वक देखा ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपंक्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमलिनाग्रमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम् 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पक' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेऽपन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तपरिहारः अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः । अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् । स नलः 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात् । वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

भ्रमर-पङ्क्तिसे उन्नत अग्रभागवाले चम्पाकी कलिकाको धीरताहीन बुद्धिसे अर्थात् धैर्यरहित हो देखकर आतङ्कयुक्त उस नलने उसे वियोगियोंकी विपत्तिके लिए उदयको प्राप्त धूमकेतु माना ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

गलदिति । स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोपलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

उस (नल) ने गिरते हुए परागवाले, चक्कर काटते हुए दूसरे वृक्षोंसे आते हुए भ्रमरसमूहवाले नागकेसर-पुष्पको कामदेवके बाणके रगड़नेसे निकलती हुई जलती चिनगारीवाले शाण के समान देखा ॥ ९२ ॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्खलन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

तदङ्गमिति । सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः । तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु'ति वैजयन्ती । तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादपादानात् पातुका धावन्तीः, 'लषपते'त्यादिना उकञ्प्रत्ययः । स्खलन्तीर्वन्तीः

शिलीमुखालीः अलिपंक्तीः बाणपंक्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः। अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ९३॥

पुष्पोंकी अपेक्षा सुगन्धित नल-शरीरको उद्देश्य (लक्ष्य) कर चली हुई, गुणग्राहिणी (सुगन्धिगुणको चाहनेवाली, पक्षा०—प्रत्यञ्चाका स्पर्श की हुई), शब्द करती (पक्षा०—गूंजती) हुई भ्रमर-पङ्क्ति देखकर अपने धनुपसे दुःखपूर्वक अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट होकर निकले हुए बाणके भ्रमसे कामदेव लज्जित-सा हो गया। [नलके शरीरकी सुगन्धि पुष्पोंसे अधिक थी, अतएव पुष्पोंको छोड़-छोड़ कर भ्रमरसमूह नल-शरीरपर गूँजते हुए आ रहे थे, उन्हें देखकर कामदेव 'ये मेरे बाण (पुष्परूप चापकी प्रत्यञ्चासे निकलकर लक्ष्यभ्रष्ट हो) शब्द करते हुए जा रहे हैं' ऐसा भ्रम होनेसे मानो लज्जित हो गया। लक्ष्यभ्रष्ट होकर जाते हुए बाणको देख धनुर्धर को लज्जित होना उचित है]॥ ९३॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्॥ ९४॥

मरुदिति। मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः। 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः। कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः। मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपी'त्यमरः। स नलो ददर्श॥ ९४॥

उस (नल) ने वायु से कम्पित शाखाग्रके कण्टकोंसे (पक्षा०—वायुके समान विलास करते हुए विट (धूर्त नायक) के कण्टकतुल्य नखोंसे) क्षत, निकलते हुए चन्दनके समान श्रेष्ठ सुगन्धवाले (पक्षा०—निकलते हुए चन्दनके श्रेष्ठ गन्धवाले) वेश्याके स्तनोंकी समानताको पाये हुए पके बेलके फलको देखा॥ ९४॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः॥ ९५॥

युवेति। युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जने पर्यन्तात्लुट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः। स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्य

इत्यर्थः, अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे। अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः। 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि। आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः॥' इति लक्षणात्॥ ९५॥

वे (नल) युवक मिथुनके हृदयमें प्रवेश करनेके योग्य पुष्पोंसे पूर्ण मध्य भागवाले पाटला गुच्छको भयसे अन्धी (विचारशून्य) बुद्धिसे कामदेवका तरकस समझकर कम्पित हो गये। [नलने पाटलाके गुच्छको पुष्पोंसे परिपूर्ण देखकर समझा कि यह विरही युवक-दम्पतिके हृदयको वेधनेवाला कामदेव के बाणोंसे भरा हुआ तरकस है, अतः वे स्वयं भी विरही होनेके कारण उसके भयसे कम्पित हो गये। भयके कारण विचार-शक्तिके नष्ट होनेसे नलने वैसा समझा]॥ ९५॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्॥ ९६॥

मुनीति। अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कुतः क्षय? इति भावः। अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः। वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरि'त्यमरः। कलाकलापङ्कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु? अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः॥ ९६॥

इस (नल) ने वनमें कोरकित कृष्णवर्ण अगस्त्यको कृष्णपक्षमें चन्द्रकलाक्षयके कपटसे भक्षित चन्द्रकलाको वमन करते (उगलते) राहु के समान माना। (अथवा—……… अन्धकारमें कपटपूर्वक खाये गये पशु आदिको वमन करते हुए सिंहके बच्चेके समान माना)। [प्रथम अर्थमें—यह राहु चन्द्रमाको खा गया था, अतएव मुझे सन्ताप नहीं होता है किन्तु अब पुनः चन्द्रमाको यह वमन कर रहा है, अतएव मुझे यह चन्द्रमा सन्तप्त करेगा, ऐसा समझकर वे डर गये। द्वितीय अर्थमें—अन्धकारमें पशुको खाकर उसे उगलते हुए सिंहको वनमें देखनेसे भय होना उचित ही है। अगस्त्यको कोरकयुक्त देख उसके कामोद्दीपक होनेसे विरही नल डर गये]॥ ९६॥

[1]पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा[2] वृतेर्वीरुधि [3]नद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमील[4] विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥९७॥

पुर इति। पुरोऽग्रेहठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां नद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च

१. 'पुरा इति' पाठान्तरम्। २. 'च्छदा वृते—' इति पाठान्तरम्।
३. 'बद्ध—' इति पाठान्तरम्। ४. 'ससृजु—' इति पाठान्तरम्।

यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिळन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताचक्षुरित्यर्थः। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकत्रिरहप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ९७॥

सामने (पाठा०—पहले) हठपूर्वक बर्फके समान श्वेत पत्ते रूप आवरण (वस्त्र) को हटानेवाली, वायुकी लताओंमें विलास (या—विशिष्ट भ्रम, या—पक्षियोंका भ्रम) करनेवाली, पुष्पविषयक क्रीडाओं (या—कामक्रीडाओं) ने नलके नेत्रोंको बन्द कर दिया अर्थात् उसे देखकर नलने अपने नेत्र बन्द कर लिये। अथवा—सामने हठ पूर्वक हटाये गये तुषार तुल्य श्वेत पत्तोंवाली, वेरेकी लताओंमें विशिष्ट भ्रम (या—पक्षियोंका भ्रम) पैदा करनेवाली, वायुकी पुष्पोंमें क्रीडा (या-वायुकी कामक्रीडा) ने नलके नेत्रों को बन्द कर दिया। (स्त्री-पुरुषकी कामक्रीडा देखनेका स्मृतिशास्त्रमें निषेध होनेसे स्त्रीरूपिणी लताके साथ पुरुषरूपी वायुकी कालक्रीडाको देखकर मानो नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया, वास्तवमें तो वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई लताओंका देखना कामोद्दीपक होनेसे उनके असह्य होनेसे नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया था]॥ ९७॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान्? ॥९८॥

गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु'ति विश्वः। 'धा कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधातेः ष्ट्रन्प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः, नमेर्मित्वविकल्पाद्ध्रस्वाभावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छन्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां चेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः॥ ९८॥

जो पृथ्वीके उत्सङ्ग (क्रोड=गोद, पक्षा०—भूतल) में विशाल हुये थे अर्थात् पलकर बड़े हुए थे, वे पेड़ फलों (पक्षा०—पुण्योत्पन्न मनोरथ-प्राप्ति) गौरव (भारीपन, पक्षा०—गुरुता) से अतिशय नम्र किये गये शाखाग्रों (पक्षा०—मस्तकों) से उस पृथ्वी (पक्षा०—माता) की वन्दना करते हुए उन पेड़ोंका नल क्यों नहीं अभिनन्दन करते? अर्थात् अवश्यमेव अभिनन्दन करते। (लोकमें भी माताकी गोदमें बढ़कर विद्याध्ययनादि फलके गौरवसे अत्यन्त नम्रमस्तक हो उस माताकी वन्दना करनेवाले पुत्रका सज्जन लोग जिस प्रकार अभिनन्दन करते हैं, उसी प्रकार भूतलपर बढ़कर फलोंके भारसे अत्यन्त झुकी हुई

डालियोंवाले वृक्षोंका अभिनन्दन नलने किया। फल-भारसे झुके हुए वृक्षोंको देखकर नल बहुत प्रसन्न हुए] ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥ ९९ ॥

अन्नातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति-नृपायेति । वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः 'रोः सुपी'ति रेफादेशः । तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

उपवन-वायुसे ठण्डा किया गया, पुष्पोंके मधुसे अमृतके तुल्य बनाया गया तथा केतकी-पुष्पके परागोंसे श्वेतवर्ण किया गया भी दिनकी धूप विरही उस राजा (नल) के लिए चाँदनीके आनन्दको नहीं दे सकी। [यद्यपि उक्त कारणत्रयसे शीतल, अमृतयुक्त एवं श्वेत वर्ण होनेसे दिनकी धूप चाँदनी-जैसा सुखद हो रही थी, किन्तु विरहियोंके लिए चाँदनीके दुःखद होनेसे वैसे धूपसे भी नलको सुख नहीं हुआ] ॥ ९९ ॥

'वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

वियोगेति । वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपकं, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः । मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति संकरः । अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥ १०० ॥

विरही भी राजा (नल) के मुखको साक्षात् चन्द्रमा ही देखते हुए (अतएव—'यह विरही होकर भी मलिन नहीं हुआ, प्रत्युत चन्द्रतुल्य सुन्दर ही है' ऐसा विचारकर) क्रोधसे लाल नेत्रोंवाला तथा 'कुहू' शब्द करनेवाला पिक पुनः चन्द्रमाकी विरोधिनी ('कुहू' अर्थात् अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावस्या तिथि) को बुलाने लगा। (अथवा-निश्चित ही चन्द्र विरोधिनी कुहूको बुलाने लगा)। विरहावस्थामें भी नलमुख चन्द्राधिक सुन्दर था ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥ १०१ ॥

१. 'अयोग—' इति पाठान्तरम् ।

अशोकमिति। एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः। अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः। अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्निरित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलापेण शरणे रक्षणे साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः। 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्वः, 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः। आगतान् शरणागतानित्यर्थः। गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः। 'गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः। अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः। अमन्यत ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः॥ १०१॥

'जहाँ शोक नहीं है, उसे 'अशोक' कहते हैं' ऐसे सार्थक नामकी आशासे समीपमें 'गये हुए, स्त्रियोंको सोचते हुए पथिकोंकी, पल्लवोंसे जलते हुए अस्त्रतुल्य कलियोंके गुच्छाओंको छिपाये हुए (या—रक्त पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको अपने शरीरपर ग्रहण किये हुए, अतएव) शरणागतोंके लिए साधु (श्रेष्ठ) अशोकको नलने रक्षा करते हुएके समान माना। (अथवा—······पथिकोंको कामदेवके जलते हुए अस्त्रको स्वीकार कर पल्लवोंसे मारते हुए अशोकको नलने वध करनेमें श्रेष्ठ माना) [प्रथम अर्थमें—उक्त रूपसे अन्वर्थक समझकर अशोकके पास गयी हुई स्त्रीकी चिन्ता करते हुए पथिकोंके शरण्य (शरणागतवत्सल) अशोकको जलते हुए कामबाणोंको अपने शरीर पर स्वीकार कर रक्षा करते हुएके समान माना। लोकमें भी शरणागतवत्सल सज्जन व्यक्ति अपने ऊपर शत्रुओंके शस्त्रोंका प्रहार सहते हुए भी शरणागतकी रक्षा करता है। द्वितीय अर्थमें—उक्त आशासे समीप गये हुए पथिकोंको, अशोकने 'रक्तवर्ण पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको स्वीकार कर मारा (वे अशोकके रक्तपल्लवोंको देखकर अधिक कामपीडित हुए) अतएव नलने उस अशोकको वध करनेवालोंमें श्रेष्ठ माना। लोकमें भी कोई असज्जन व्यक्ति रक्षा पानेकी आशासे समीपमें आये हुए शरणागतोंका भी उनके शत्रुके भयङ्कर अस्त्रोंसे वध कर डालता है। अशोक-पल्लवोंके कामोद्दीपक होनेसे द्वितीय अर्थ ही उचित प्रतीत होता है और वही अर्थ 'प्रकाश' कारको भी विशेष सम्मत है]॥ १०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः?॥

विलासेति। विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्तृ, आरराध आराधयामास। तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः सुखं तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १०२॥

क्रीडावापीके तीरपर तरङ्गोंके बजने (शब्द करने) से, पिकसमूह (या—पिकों तथा भ्रमरों) के गानेसे तथा मयूरोंके नृत्य–चातुर्यसे वनमें भी उस नलकी तौर्यत्रिक (क्रमशः- वादन, गायन तथा नर्तन) ने सेवा की, क्योंकि भाग्यवान् मनुष्य कहाँपर भोगको नहीं पाता ? अर्थात् भाग्यवान् मनुष्यको भोग–विलासके साधन सर्वत्र मिल जाते हैं। यद्यपि विरही होनेसे कामपीडित नलके लिए वे कामोद्दीपक वादनादि सुखकर नहीं थे, तथापि विरक्त व्यक्तिके सामने स्थित तरुणी तरुणी ही मानी जाती है, अतएव विरही भी नलके लिए प्रतिकूल होनेपर भी वे वादनादि भोग–साधन ही माने जायेंगे। अथवा—'…तौर्यत्रिकने खेद है कि नलको मारा अर्थात् पीडित किया, क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत पुण्यपापजन्य सुख या दुःख) को पानेवाला मनुष्य भोग (पुण्यजन्य सुख या–पापजन्य दुःख) को कहाँ नहीं पाता है ? अर्थात् सर्वत्र पाता है, अतएव नलको महलमें तो कामपीड़ा होती ही थी, विनोदार्थ एकान्त वनमें आनेपर भी उससे छुटकारा नहीं मिला' यह दूसरा अर्थ करना चाहिये। इस दूसरे अर्थके लिए 'आ' उपसर्गको खेदवाचक तथा 'रराध' क्रियापदमें 'राध' धातुको हिंसार्थक मानना चाहिये ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०३ ॥

तदर्थमिति। जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्। तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः। उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

उस (नलकी स्तुति करने) के लिए पढ़ाकर छोड़े गये चतुर (स्पष्ट बोलनेवाले, या–कही हुई स्तुतिका ठीक-ठीक अभ्यास किये हुए) तोतोंने उस नलकी स्तुति की तथा उस (नल) के पुरुषार्थ–गानको सिखायी गयी सारिकाओं (मैनों) ने अमृततुल्य मधुर स्वरसे नलके पौरुषको गाया ॥ १०३ ॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं [1]बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०४ ॥

इतीति। इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्मत्वम्। असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवल' इति विश्वः। बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपं नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः। 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ॥ १०४ ॥

१. 'बहिः परम्' इति पाठान्तरम्।

इस प्रकार अभीष्ट सौरभयुक्त वनमें घूमते हुए तथा तोतों एवं सारिकाओंसे स्तुत भी उस नलने बाहरी आनन्दको तो प्राप्त किया, किन्तु दमयन्तीके विरहके कारण भीतरी आनन्दको नहीं प्राप्त किया ॥ १०४ ॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

करेणेति। स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

(लोगोंने) उस नलको पेड़ोंके थालोंके पानीसे प्रवेश करनेकी शङ्कासे अपने पताका चिह्न मछलीको हाथ में धारण किया हुआ—(पक्षा०—अपने राजचिह्न रेखारूप मीनको हाथमें धारण किये हुए) तथा सब ऋतुओंसे परिपूर्ण इस वनमें वसन्त ऋतुका अनुगमन करता हुआ कामदेव समझा ॥ १०५ ॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ १०६ ॥

लतेति। लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः। 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इतिहलायुधः, पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक्। सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः। एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

लतारूपिणी नायिकाको नृत्यकला सिखानेवाला, वृक्षोंके पुष्पोंके गन्धसमूहको चुरानेवाला तथा पुष्परसरूप सुरभित जलमें (या—नलके 'मधुगन्ध' नामक सरोवरके जलमें) जलक्रीडा किया हुआ पवन इस नलकी सेवा करने लगा। [उक्त विशेषणत्रयसे पवन का मन्द, सुगन्ध तथा शीतल होना सूचित होता है, जो नलके लिए शुभ शकुनका सूचक है। लोक-व्यवहारमें भी कोई परिचारक बड़े लोगोंकी पीठमर्दनादिके द्वारा सेवा करते हैं] ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

अथेति। अथ वनालोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः। चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति

त्प्रत्ययः । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः । स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपाम्बुधिरिवेत्युत्प्रेक्षा । तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः ॥

उस राजा (नल) ने बहुत समय बढ़े हुए, प्राचीन रत्नों (अपने धन) को मथने के भयसे लेकर उस (नलके उपवन) में छिपे हुए समुद्रके समान (अपने क्रीडासरको) देखा । [लोकमें भी कोई धनवान् व्यक्ति चोरीके भयसे अपने चिरसञ्चित धनको लेकर वनमें छिप जाता है । नलका क्रीडासर समुद्रके समान बहुत रत्नोंसे भरा हुआ एवं गम्भीर था] ॥ १०७ ॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः ॥१०८॥

यदुक्तं धनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः । यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूमिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः । मृणालजालस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृशयोरि'ति विश्वः । अनन्तोरगस्य शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार । तन्नैक एवैरावतः, अत्र त्वसंख्या इति व्यतिरेकः । अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत्, 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कर्मण्युकञ्प्रत्ययः ॥

(आगेके १।११७) श्लोकमें समुद्र शोभाका चोर इस तडागको कहा गया है, अतएव वहाँ तक समुद्र-धर्मोंका वर्णन करते हैं—) जो तडाग पानीसे आधा ढके हुए तट प्रान्त भूमिसे बहिर्गत मृणाल-समूहके कपटसे शेषनागकी पूँछके समान सुन्दर कान्तिवाले तथा जलमें डूबे हुए ऐरावतके दन्त—समूहको धारण करता था । (पानीमें आधे छिपे हुए तथा आधे तीर भूमिके ऊपर निकाले हुए मृणाल-समूह ऐसे मालूम पड़ते थे कि वे शेषनाग की पूँछके समान, पानीमें डूबे हुए ऐरावतोंके दन्त-समूह हों । समुद्रसे एक ऐरावत निकला था, किन्तु इस तडागमें अनेक ऐरावत डूबे हुए थे, अतएव यह समुद्रसे भी श्रेष्ठ था) ॥ १०८ ॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥ १०९ ॥

तटान्तेति । यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैरुत्प्रताडनैः, 'अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः, चलदुच्चलदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभावित्युत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत् । एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥१०९॥

जो (तड़ाग) तीरपर ठहरे हुए घोड़ोंकी (नील-श्वेत-कृष्ण आदि विविध) कान्तिके प्रतिबिम्बके सम्बन्धसे चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ोंके प्रहारोंसे मानो हजारों उच्चैःश्रवाको धारण करता था। [घोड़े कोड़ेकी प्रहारसे चञ्चल होकर चलते हैं, जलमें प्रतिबिम्बित वस्तुके तरङ्गसे चञ्चल होनेके कारण तीरपर ठहरे हुए नलके घोड़ोंके प्रतिबिम्ब जलके तरङ्गरूपी कोड़ोंकी मारसे चलते हुए अनेक उच्चैःश्रवा घोड़ोंके समान प्रतीत होते थे। यहाँ भी समुद्रमें एक उच्चैःश्रवासे तथा इस तडागमें अनेक उच्चैःश्रवाके होनेसे समुद्रकी अपेक्षा इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है तथा नलके घोड़ोंका उच्चैःश्रवाके समान होना सूचित होता है] ॥ १०९ ॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥ ११० ॥

सितेति । यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। अत्र छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

जो (तडाग) बीचमें भ्रमरोंके बैठनेसे श्यामवर्ण मध्यभागवाले श्वेतकमलोंके समूहके कपटसे अन्धकारके समान (कृष्णवर्ण) कलङ्कसे युक्त चन्द्रमाके बहुतसे समूहोंको धारण करता हुआ शोभता था—। [यहाँ भी एक चन्द्रमावाले समुद्रकी अपेक्षा अनेक चन्द्रकुलको धारण करनेवाले इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है] ॥ ११० ॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

रथाङ्गेति । यस्तडागो रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधञ्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्यायत्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः', कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुलसहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितसमासः, तद्भुवा तदाकारेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममि'त्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

जो (तडाग) चकवा-चकईयुक्त, कमलसहित, भ्रमर-समूहवाले तथा मृणालरूप जो शेष शरीर तद्रूप भूमिपर उत्पन्न कमलिनी स्तम्ब-समूहके कपटसे सुदर्शनचक्र युक्त लक्ष्मी

के साथ रहनेवाले, भ्रमरसमूहके समान (श्याम कान्तिवाले) तथा मृणाल तुल्य (शुभ्र वर्ण) शेषनागकी शय्यावाले विष्णुसे अनुगत (युक्त) होता था। [क्षीर समुद्रमें उक्तरूप विष्णु भगवान् रहते हैं, अतएव यह तडाग भी उक्तरूप कमलिनी–स्तम्ब–समूहयुक्त होनेसे वैसा ही प्रतीत होता था] ॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकस्विभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चे'ति भृञो विकल्पादाम्प्रत्ययः। किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति । अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ११२ ॥

जो (तडाग) क्रोड (मध्य) में स्थित अपनी प्रिया तरङ्ग लेखारूपिणी नदियों को धारण करता था तथा कुछ बाहर निकले हुए रक्तकमल–समूहके अङ्कुरोंसे विद्रुमके अङ्कुर-समूह वाला था—। [समुद्रमें जैसे उसकी प्यारी बहुत सी नदियाँ आकर मिलती हैं तथा विद्रुमके अङ्कुर-समूह रहते हैं, उसी प्रकार इस तडागके मध्यमें भी अपनेमें ही उत्पन्न होनेसे प्रिय तरङ्ग रेखारूपी नदियाँ थीं तथा बाहरकी ओर थोड़ा दीखते हुए रक्तकमलके अङ्कुर-समूह प्रवालाङ्कुर समूहरूप थे। अतएव यह तडाग समुद्रतुल्य था] ॥ ११२ ॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

महीयस इति । यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सितासितयोरिति भावः। त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने। अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

गौर (श्वेत) तथा मेचक (चमकदार नीलवर्ण) कमल समूहके कपटसे जिसको नलने पानीमें डूबे हुए चन्द्रमा तथा कालकूट (हलाहल विष) की कान्तिको छोड़ता हुआ-सा माना। [समुद्र जिस प्रकार श्वेत चन्द्रमा तथा हलाहलसे युक्त है, उसी प्रकार इस तडाग में भी श्वेत तथा नील कमल-समूह होनेसे यह तडाग भी उन (चन्द्रमा तथा हलाहल) से युक्त था] ॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

चलीकृता इति । यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनाश्चलीकृताः चञ्चलीकृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पंक्तयः हव्यं वहतीति हव्य-

वाडवाग्निः 'वहश्चे'ति ण्विप्रत्ययः । तस्यच्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो धूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः । बहिरवस्थितधूमपटलवद्बभुरित्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

जिस (तडाग) में तरङ्गोंके चलनेसे बड़े-बड़े शेवाल लताके समूहने भीतरमें रहनेवाले वाडवाग्निसे ऊपर उठे हुए धूम-बाहुल्यको धारण कर लिया है, ऐसा प्रतीत होता था। [तरङ्ग-समूहसे चञ्चल बड़े-बड़े शेवाल-समूह अन्तःस्थित वडवाग्निके ऊपर उठती हुई धूमज्वालाके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥११५॥

प्रकाममिति । आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः । यत्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सर इवाचरिता । 'उपमानाद् कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्तः, 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः । श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ ११५ ॥

जिस (तडाग) में उत्पन्न, दिनमें सूर्यको प्राप्तकर सम्यक् प्रकारसे कण्टकोंके द्वारा व्याप्त, सौरभ-समूहको फैलाती हुई, विकसित शोभास्थान (कमल) रूप शरीरवाली कमलिनी विशिष्ट कामयुक्त इन्द्रदेवको प्राप्तकर रोमाञ्चोंसे व्याप्त हर्षातिशयको प्रकट करती हुई तथा स्वर्गसे धारण किये गये प्रकाशमान शोभा-स्थानरूप शरीरवाली अप्सराके समान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

यदिति । यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतो वर्त्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

जिस (तडाग) के जल-प्रवाहमें प्रतिबिम्बित विस्तारवाला तथा वायु चलित तरङ्गोंसे चञ्चल तीरस्थ वृक्ष (जलके भीतर) डूबकर स्थित तथा पङ्खोंको कँपाते हुए मैनाक पर्वतकी समानताको विस्तृत कर रहा है। [जिस तडागके जलमें प्रतिबिम्बित वायु-प्रेरित तरङ्गोंसे चञ्चल तटस्थ द्रुम समुद्र-जलमें डूबकर पङ्ख हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११६ ॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

पयोधीति । अथ च नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञि' इत्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'दिना निपातनात् साधुः । हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि-प्रियास्विति । बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोश्चोटयोः 'चञ्चुत्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्लवञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विश्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः । ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः । 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतरपर्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्कसमाख्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः । तेन स बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्त्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७-११८ ॥

उस नलने (उक्त प्रकारसे १।१०८-११६) समुद्र शोभाको चुरानेवाले अर्थात् समुद्रके समान शोभमान उस क्रीड़ाके छोटे जलाशयमें रमणाभिलाषिणी हंसीके कलनाद (अव्यक्त मधुर शब्द) में अभिलाषुक, (अल्पकामा) बाला प्रियाओं तथा सुरत-समय

युवती प्रियाओंमें दोनों चोंचों तथा दोनों चरणोंके कपट से (क्रमशः) दो पत्रयुक्त तथा पल्लवयुक्त कामोत्पन्न अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए, विचित्र ढङ्गसे (या सुवर्णमय होनेसे आश्चर्यकारक) पासमें (नलके समीपमें, या-क्रीड़ातडाग के समीपमें) विचरते (धीरे-धीरे चलते) हुए सुवर्णमय हंसको देखा। [बाला प्रियाओंमें अल्पकाम होनेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर केवल दो पत्तोंवाला था, जिसे वह दो चञ्चुपुटके कपटसे धारण करता था, तथा सुरत-समर्थ युवती प्रियाओंमें प्रचुर काम होनेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर पल्लवयुक्त था, जिसे वह पल्लवस्थानीय चरणाङ्गुलिके कपटसे धारण कर रहा था। यद्यपि इस तडागकी तुलना समुद्रसे करनेके कारण इसे पल्लव (छोटा जलाशय) कहना उचित नहीं है, तथापि नलके क्रीडातडागकी भावनासे इसे 'पल्वल' कहा गया है। अथवा—विस्तारके कारण समुद्रतुल्य तथा विनश्वर होनेसे पल्वलतुल्य शरीरमें विहार करते हुए रमणार्थिनी हंसी शक्तिके कलनाद (अव्यक्त ध्वनि) में आदरयुक्त हिरण्मय परमात्माको जैसे कोई योगी जानता (देखता) है, वैसे हंसको नलने देखा]॥ ११७-११८॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्॥ ११९॥

महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः॥११९॥

प्रिया [दमयन्ती] के विरहसे अत्यन्त दुखी भी वे पृथ्वीपति नल निश्चितरूपसे मनोहर उस पक्षी (हंस) को थोड़ी देर देखकर (उसे ग्रहण करनेके लिए) कुछ कौतुक युक्त हो गये अर्थात् उसे पकड़नेकी इच्छा किये॥ ११९॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ १२०॥

कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया'दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः। वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म॥ १२०॥

(अत्यन्त कामपीडित नलको हंस पकड़नेका कौतुक कैसे हुआ? या—नलकी सेनाको

देखकर भयभीत भी हंस कैसे सो गया, इसका समाधान अर्थान्तरन्यासके द्वारा करते हैं—) अवश्य होनेवाले होनहारमें निर्बाध ब्रह्माकी इच्छा जिस ओर दौड़ती है, मनुष्यका अत्यन्त पराधीन चित्त भी वायु-समूहसे तृणके समान उसी दिशाको जाता है [होनहार को कोई नहीं टाल सकता] ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
सतिर्य्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥ १२१ ॥

चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति-अथेति । अथ नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रियाया-मित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयष्ठन्प्रत्ययः, 'तद्धितार्थे'त्यादिना सङ्ख्या-समासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन तादृप्याभावान्न पादः पदादेशः, तामेक-पादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप । स्वभावोक्तिरलङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १२१ ॥

अनन्तर रति-खेद-खिन्न वह हंस गर्दनको तिरछा कर शिरको पङ्खसे छिपाकर एक पैरपर स्थित होकर उस तडागके पासमें ही सो गया ॥ १२१ ॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ? ॥ १२२ ॥

सनालमिति । स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं निजमुखनि-राकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्माम्बुजं किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम् ? इति शब्दोऽध्याहार्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धकारः ॥ १२२ ॥

उस (नल) ने उस (सोये हुए हंस) को (एक चरण पर बैठे रहनेके कारण) अपने मुखसे पराजित शोभावाला (अतएव) लज्जासे नीचे मुख किया नाल (कमलदण्ड) सहित सुवर्णमय कमल समझा क्या ? तथा विद्रुम के दण्ड से शोभित पीतवर्ण वरुणका हिरण्मय चामर समझा क्या ? [लाल एक चरणसे पीतवर्ण हंसको रक्तवर्ण नालवाला सुवर्णमय पीला कमल तथा रक्तवर्ण दण्डवाला सुवर्णमय वरुणका चामर समझना उचित ही है अर्थात् उक्तावस्थामें सोया हुआ हंस रक्तनालवाले सुवर्णमय कमलके समान तथा विद्रुमदण्डवाले सुवर्णमय वरुणके चामरके समान प्रतीत होता था] ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥१२३॥

कृतेति । ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नल-

स्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे। 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः। पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः। 'तुं काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

तदनन्तर घोड़ेसे उतरे हुए इस नलके जूता पहने हुए चरण वन अर्थात् जङ्गलके नवपल्लवोंसे तथा वन अर्थात् जलके कमलोंसे युद्ध करनेके इच्छुक हो कवच बाँधे हुए के समान शोभते थे क्या? [जूता पहने नलके चरण ऐसे प्रतीत होते थे कि वनोत्पन्न नवपल्लव तथा (जलोत्पन्न) कमलोंके साथ युद्ध करनेके लिए उन्होंने कवच पहना हो, नल के चरणद्वय पल्लव तथा कमलके समान होनेसे उनके प्रतिभट थे] ॥ १२३ ॥

विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

विधायेति। अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप्, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्तिं विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः। मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४ ॥

इस राजा (नल) ने बलिध्वंसी (नारायण) के समान कपटमें अपने शरीरको छोटा कर शब्दरहित चरणसे (हंसके) समीपमें जाकर हाथसे उस पक्षी अर्थात् हंसको स्वयं पकड़ लिया।

[पौराणिक कथा – बलिके यज्ञमें तीन चरणपरिमित भूमि मांगनेके लिए नारायणने कपटसे अपने शरीरको अत्यन्त छोटा बनाकर बलिको बाँधा था।] ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥१२५॥

तदिति। स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान्। यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः। उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान्। अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥ १२५ ॥

तब उस हंसने अपनेको पकड़ा गया समझकर घबड़ाकर (या–भयसे) बार–बार उड़नेके लिए प्रयत्न किया, (फिर) उड़नेमें निराश हो चिल्ला–चिल्लाकर पकड़नेवाले (नल) के दोनों हाथोंको काटने लगा ॥ १२५ ॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

स इति। ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः कर्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः। अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतग्रहारपरिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा। वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवेवशब्दस्य उपमावाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ १२६॥

(सजातीय हंसके पकड़े जानेपर) भयसे उड़े हुए पक्षि-समूहसे व्याप्त (अतएव पक्षियोंके उड़नेसे उत्पन्न वायुसे) ऊपर उठते हुए जलसे कम्पनको प्राप्त (या–हंस-विषयक उत्कण्ठासे दयालुताको प्राप्त) वह तडाग तरङ्गोंसे चञ्चल कमलरूप हाथोंके द्वारा पक्षी (हंस) पकड़नेसे राजा नलको मना-सा कर रहा था। [हंसके पकड़े जानेसे तडागवासी पक्षी जब भयसे एक साथ उड़ गये और उनके पङ्खोंकी हवासे तडागका जल चञ्चल हो गया तथा तरङ्गोंसे कमल हिलने लगे, तब ऐसा प्रतीत होता था कि वह तडाग राजा नलको पक्षी पकड़नेसे उस प्रकार निषेध कर रहा है, जिस प्रकार अनुचित रूपसे किसीके द्वारा किसी व्यक्तिके पकड़े जानेपर दूसरा दयालु व्यक्ति हाथोंको हिलाकर वैसे काम करनेसे उस व्यक्तिको मना करता है]॥ १२६॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली॥ १२७॥

पतत्त्रिणेति। रुचिरेण पतत्त्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलन्त्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्यामुपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज। यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम्॥ १२७॥

सुन्दर उस पक्षी (हंस) से रहित तडागको छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी (पक्षा०—शोभा) के (चलनेसे) चञ्चल चरण-कमलके नूपुरोंके समान राजहंस-समूह तीरपर कूजने (शब्द करने) लगा। [लोकमें भी प्रियसे रहित स्थानको छोड़कर जाती हुई नायिकाके चरणके नूपुर शब्द करते हैं। जाती हुई कहनेसे लक्ष्मीका वहाँसे तत्क्षण जाना ध्वनित होता है]॥ १२७॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु॥ १२८॥

नेति। इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः! यस्या वसुधाया

उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः, इत्थं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु। उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरित्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

'हे अङ्ग (राजन् नल) यह पृथ्वी निवासके योग्य नहीं है, जिसके तुम मर्यादा छोड़नेवाले ऐसे (निरपराध हंसको पकड़नेवाले) पति (रक्षक या—स्वामी) हो' इस प्रकार पृथ्वीको छोड़कर आकाश का आश्रय किये हुये अर्थात् पृथ्वीसे आकाशमें उड़े हुए पक्षी अधिक शब्द कर नलकी निन्दा करने लगे। [लोकमें भी लोग धनाधान्यपूर्ण उपद्रवयुक्त देशका त्याग कर शून्य देशका आश्रय करते हैं] ॥ १२८ ॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः ।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥ १२६ ॥

नेति । इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा हिरण्मयः पक्षो न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः । इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः । अवादि उक्तः । वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

'यह सोनेके पङ्खोंसे उत्पन्न सुन्दरता पक्षीकी नहीं देखी गयी है ।' इस प्रकार हंसकी बार-बार प्रशंसा करते हुए राजा नलसे करपञ्जरस्थ मानसरोवर-निवासी वह हंस बोला— [अथ च—ब्राह्मणकी सुवर्ण-सामग्रीसे उत्पन्न सुन्दरता कहीं नहीं देखी गयी है……… अर्थात् ब्राह्मण प्रायः इतने अधिक धनी नहीं होते कि सुवर्णसे इस प्रकार व्याप्त हों । हाथको पञ्जर कहनेसे नलका हंसको ढीले हाथसे पकड़ना अतएव हंसका अपीडित होना सूचित होता है] ॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥ १३० ॥

तदेव चतुर्भिराह—धिगित्यादि । हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरि' त्यमरः । 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया । तुषारशीकरैः हिमकणैरर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

सुवर्णोत्पन्न मेरे पङ्खोंको देखकर लोभसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है, समुद्रको ओसकी बूँदोंसे जलके समान समृद्धिमान् तुमको इन (सुवर्णोत्पन्न पङ्खों) से कितनी धनकी वृद्धि होगी ? अर्थात् कुछ नहीं । [जिस प्रकार अथाह जलसे पूर्ण समुद्र का जल ओसकी बूँदों से कुछ भी नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार समस्तैश्वर्यसम्पन्न तुम्हारा धन इन

थोड़े सुवर्ण-पक्षोंसे कदापि नहीं पढ़ सकता, अतएव उनके लिए लोभ करनेसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है] ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३१ ॥

नेति । हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः । ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्म्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

तुम्हें देखनेसे विश्वस्तहृदयवाले मेरी हिंसा केवल जीवहिंसा मात्र नहीं है, क्योंकि धार्मिकोंने विश्वस्त शत्रुओंकी भी हिंसाको विशेष निन्दित कहा है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ? ।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥ १३२ ॥

पदे पद इति । रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः । नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

पद-पदपर युद्धमें बहादुर योद्धा हैं, उनमें तुम्हारा हिंसानुराग नहीं पूरा होता क्या ? अर्थात् अवश्य पूरा होता, (अतएव) हे राजन् ! तुम्हारे इस निन्दित पराक्रम (अथवा भूमिपर प्रसिद्ध पराक्रम) को धिक्कार है, जो कृपापात्र दीन पक्षीपर प्रयुक्त हो रहा है । [अथवा – पद-पदपर रणमें बहादुर योद्धा नहीं हैं ? जिनमें तुम्हारा यह हिंसानुराग पूरा होता·······। अथवा—-पद-पदपर युद्धमें बहादुर शूरवीर हैं, (तथापि) तुम्हारा यह हिंसानुराग नम्रों (मेरे जैसे दीनों) में पूरा होता है ? अर्थात् उन शूरवीरों के साथ युद्ध करनेमें असमर्थ होनेसे तुम मुझ-जैसे नतमस्तक दीनोंमें अपनी हिंसा-प्रवृत्तिको पूरा करते हो, यह अनुचित है ।·········] ॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयते कण्ड्वा-

दिथगन्ताल्लट् तत्र ह्रुणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम्। अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि ह्नन्ते स्त्रिय इति भावः॥ १३३॥

(राजाका दण्ड देना धर्म है, इस पर वह हंस कहता है—) जिसकी जीविका जलभूमिमें उत्पन्न अर्थात् कमलोंके फल (कमलगट्टा) तथा मूल (कमल—नालकी जड़) से (अथवा—जलमें उत्पन्न होनेवाले कमलादिके तथा भूमिपर उत्पन्न होने वाले आम्रादि के फल तथा, कन्द से) मुनिके समान है, ऐसे (दयापात्र) मुझपर भी दण्ड प्रयोग करने वाले तुम्हारे ऐसे पतिसे पृथ्वी क्यों नहीं लज्जित होती?। [दीनोंको दुःख देते हुए पति को देखकर उसकी स्त्री जिस प्रकार लज्जित होती है, उसी प्रकार फलमूलसे जीविका-निर्वाह करने वाले मुनिके तुल्य मुझको दण्ड देते हुए तुम्हें देखकर पृथ्वीको भी लज्जित होना चाहिये]॥ १३३॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः॥ १३४॥

इतीति। इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषाळम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः। पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वाकार्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शनेन तन्निवर्त्तनेच्छा वा कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृतं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेशः। दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः॥ १३४॥

वह पक्षी (हंस) इस प्रकारके (१।१२०-१३३) वचनोंसे उस (नल) को आश्चर्य, दुःख तथा कृपासे युक्त बनाकर दया-समुद्र उनके हृदयमें करुणारस (कारुण्यरूपी जल) की नदीरूपिणी वाणियोंको प्रवाहित कराया अर्थात् समुद्रमें जलपूर्ण नदियोंके समान दयापूर्ण नलके हृदयमें करुणा रससे युक्त वचनोंको प्रविष्ट कराया—नलसे करुणापूर्ण वचन कहने लगा—। [नल सुवर्णमय हंस देखनेसे आश्चर्यित, अपनी निन्दा सुननेसे लज्जित तथा उसके वचन सुननेसे कृपासे युक्त हो रहे थे]॥ १३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ १३५॥

तावद्गिरः प्रपञ्चयति—मदित्यादिना। तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः। जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्य्या 'हंसस्य योषिद्वरटे'त्यमरः। नव-प्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एव जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन् हे विधे! विधातः! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः॥ १३५॥

हे देव ! मैं ही जिसका इकलौता पुत्र हूँ ऐसी तथा बुढ़ापेसे पीड़ित मेरी माता है तथा नवीन प्रसववाली एवं पतिव्रता (या—दीना) मेरी प्रिया हंसी है, उन दोनों (माता तथा पत्नी) का यह व्यक्ति अर्थात् मैं गति (जीविका चलानेवाला) हूँ, उसे अर्थात् मुझे मारते हुए तुम्हें करुणा नहीं रोकती है, अहो ! आश्चर्य (या—खेद) है। (अथवा—मुझसे एक पुत्र है जिसकी ऐसी, अजननी अर्थात् मेरे मरनेके बाद भी पुत्रोत्पादन नहीं करने वाली, बुढ़ापेसे पीडित) पतिव्रता (होनेसे युवती होने पर भी पुनः विवाह नहीं करनेसे सन्तानोत्पादन नहीं करने वाली), वप्रमें चेष्टावाली (या—मेरे मरने पर आश्रयान्तर नहीं होनेसे पर्वत-शिखर पर घूम-घूमकर आत्मरक्षा करने वाली वरटा अर्थात् मेरी प्रिया हंसी है, उन दोनों अर्थात् उस प्रिया हंसी तथा पुत्रकी गति (जीविका चलाने वाला) यह व्यक्ति अर्थात् मैं हूँ,…… । प्रथम अर्थमें—अन्य पुत्र नहीं होनेसे तथा स्वयं जरापीड़ित होनेसे एवं मेरी स्त्रीके नवप्रसवा होनेसे माताकी रक्षाका कोई उपाय नहीं है तथा स्त्री भी नवप्रसूति तथा पतिव्रता है, अत एव अब मेरे मरनेपर वह दूसरी सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकती और पतिविरहित होकर न तो स्वयं जीविका-निर्वाह ही कर सकती है, इन दोनोंकी मैं जीविका चलाने वाला था, वह मर ही रहा हूँ। अत एव ऐसे व्यक्तिको मारते समय देव होने पर भी तुम्हें दया नहीं आती तो मनुष्य इन नलसे दयाकी आशा मैं कैसे करूँ ?। द्वितीय अर्थमें—मेरी प्रिया हंसी बुढ़ापेसे पीड़ित नहीं है, फिर भी तपस्विनी (पतिव्रता) होनेसे पुनः दूसरे पतिके साथ विवाह कर पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती तथा सर्वदा पर्वत-शिखरों पर ही मेरे मर जाने पर घूमती हुई आत्मरक्षा करेगी अपने अन्यतम निवासस्थान मानसरोवरमें कभी नहीं रहेगी, उन दोनों (प्रिया हंसी तथा पुत्रको) मैं ही जीविका चलानेवाला हूँ……] ॥ १३५ ॥

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अथ मातरं शोचयति-मुहूर्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ १३६ ॥

आँसू गिराते हुए तथा दयायुक्त मेरे मित्र थोड़े समय तक संसारकी (संसार अनित्य है, यहां आकर अन्तमें सबकी यही गति—मृत्यु होती है, काल किसीको नहीं छोड़ता, इत्यादि) निन्दासे दुःखको भूल जायेंगे, किन्तु हे मातः ! पुत्रका शोकसमुद्र तुम्हारे लिए ही दुःखसे पार करने योग्य होगा अर्थात् मित्रोंको मेरी मृत्युसे क्षणमात्र कष्ट होगा, किन्तु तुम्हें जीवन पर्यन्त कष्ट सहना पड़ेगा ॥ १३६ ॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ॥

अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्थेत्यादिना। हे प्रिये! मह्यमिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिकबिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे देशे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः। अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशङ्कया अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति? वज्रपातप्राय इति भावः। कर्त्तरि लुट्॥ १३७॥

हे प्रिये! मेरे (हंसीके) लिए सन्देश (प्रियासे जाकर इस प्रकार कहना ऐसी मेरी (हंसकी) आज्ञा) तथा मृणाल (मुझ हंसीके लिये भक्ष्य कमलनाल) के विषयमें आलसी मेरा (हंसीका) प्रिय (हंस) कितनी दूर है?" ऐसा तुम्हारे कहने पर रोते हुए (मेरे सहचर) पक्षियोंको देखती हुई तुम्हारा वह समय कैसा होगा? अर्थात् अनिर्वचनीय दुःखप्रद होगा। [अथवा—'मेरे (हंसीके) लिए मृणालोंको लाना' ऐसे मेरे (हंसीके) सन्देश (यहांसे जाते समय कहे गये वचन) में आलसी……]॥ १३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा॥ १३८॥

कथमिति। हे विधातः! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः। मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अतएव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते'ति॥

हे ब्रह्मन्! प्रिया शीतलता तथा कोमलताके शिल्पी (रचयिता—निपुण कारीगर) तुम्हारे हस्तकमलसे 'तुम प्रियासे विरह पावोगे' ऐसा ललाटको तपानेवाला कठोर अक्षर का लेख कैसे निकला? [शीतलता तथा कोमलताके चतुर कारीगर तुम्हारे स्वयं भी शीतल तथा कोमल करकमलसे शीतल तथा कोमल वस्तु की ही सृष्टि होना उचित था, न कि तद्विपरीत उष्ण तथा कठोर उक्तरूप सृष्टि होना]॥ १३८॥

अपि¹ स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि॥

अपीति। अपि चेत्यपेरर्थः। अद्यास्मिन् दिने 'सद्यःपरुदि'त्यादिना निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्गचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्त्तां

१. 'अयि' इति पाठान्तरम्।

उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणं, हे लोलाक्षि ! दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, बतेति खेदे ॥ १३९ ॥

और हे लोलाक्षि (स्वभावतः चपल नेत्रवाली प्रिये) ! आज अपने झुण्डवाले हंसोंसे वज्रप्रहारसे तुल्य मेरे वृत्तान्त (मृत्यु–समाचार) को कहने पर खेद है कि तुम दशों दिशाओं को सूना देखोगी ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे ! मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तत्तर्हि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः । कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

हे विचित्र (सुन्दर) अङ्गोंवाली प्रिये ! मेरे ही शोक से विदीर्णहृदया तुम यदि मर जावोगी तो हा ! दैवसे मारा गया भी मैं फिर मारा गया, क्योंकि तुम्हारे बच्चे (तुम्हारे विना) अवश्य ही मर जायेंगे । [मेरे विना तुम भी उन बच्चोंका पालन–पोषण कर सकती हो, किन्तु यदि मेरे वियोगसे तुम मर जावोगी तो उनकी निश्चित ही मृत्यु हो जायेगी, इस प्रकार मेरे मरनेपर मेरा परिवार ही नष्ट होता हुआ प्रतीत होता है, अतएव मुझे दुर्दैवने यह बड़ा दुःसह कष्ट दिया] ॥ १४० ॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति । हे प्रिये ! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममेवेति भावः । विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियामि'त्यमरः । विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

(हे प्रिये !) मेरे बहुत मनोरथोंसे प्राप्त, अस्फुटित नेत्रोंवाले वे (बच्चे) तुम्हारे भी (तथा मेरे भी) विरहसे भूखोंसे व्याकुल हो उन घोसलोंके समूहोंमें लोटकर क्षणमात्रमें चल बसेंगे अर्थात् मर जायेंगे; हाय ? हाय !! ॥ १४१ ॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ? ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य च स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

सुता इति । हे सुताः ! चूङ्कृतैश्चूङ्कारश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि

कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत ! कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः। इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः। गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। प्रमीलय मूर्च्छां प्राप्य स हंसः सुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे। प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ॥ १४२ ॥

(इस प्रकार प्रियाको लक्ष्य कर कहनेके बाद हंस अपने पुत्रोंको लक्ष्य कर कहता है-) हे पुत्रो ! 'चूं चूं' करते हुए चिरकालतक किसे बुलाकर (भोजन-पदार्थ माँगोगे) ? तथा मुखोंको कँपाते हुए (बोलना सीखोगे ? अर्थात् किसीसे नहीं, अतएव) कथाशेष हो (मर) जावोगे' ऐसा कह मूर्च्छित होकर वह हंस (दयाके कारण) नीचे बहते हुए राजा (नल) के आँसूके द्वारा भींगनेसे होशमें आया। [उक्त वचन कहते कहते हंस मूर्च्छित हो गया, तथा नलने उस हंसके करुण विलापसे दयार्द्र हो इतने आँसू गिराये कि उसीके प्रवाहसे भींगा हुआ हंस होशमें आ गया। यहाँ पर हंसने बच्चेसे भोजन माँगने तथा बोलना सीखनेकी बात नहीं कही है, किन्तु दुःखातिशयके कारण आधी ही बात कह सका है, ऐसा कहने से यहाँ करुणरस विशेष पुष्ट होता है। अथवा—'चूं चूं' करते हुए किसे बुलाकर तथा कंपते हुए मुखको किसके प्रति करके गोष्ठी आदिमें बोलना सीखोगे ? अर्थात् माता पिताकी मृत्यु हो जानेसे तुम्हें सभामें बोलना सिखाकर कौन चतुर करेगा ?…] ॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह—इत्थमित्यादिना। इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै यदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान् ! 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार (१।१२५–१४२) विलाप करते हुए इस हंसको (मैंने) जिस (रूपको देखने) के लिए तुम्हें पकड़ा था, वह रूप देख लिया, अब तुम इच्छानुसार (जहाँ चाहो, वहाँ) जावो' ऐसा कहकर दीनदयालु होनेसे राजा नलने छोड़ दिया ॥ १४३ ॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

आनन्देति। हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाजनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः। प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृता नेत्रपयःप्रवाहाः बाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्-

वभेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग' इति लक्षणात्। सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्॥' इति ॥ १४४ ॥

उस (हंस) ने चक्राकार (गोल) भ्रमण करनेके कपटसे (हंसके छूटनेके [illegible]से) आरती करते हुए अपने बान्धवोंको पहले (पकड़े जानेपर) शोकसे निकलते हुए नेत्राश्रु-प्रवाहवालोंको (तथा छूटनेपर) आनन्दजन्य हर्षाश्रुसे युक्त कर दिया। [राजा नलके द्वारा हंसके पकड़े जानेपर उसके सहचर बन्धु पहले रोकर तथा उस हंसके छूटनेपर हर्षित होकर आँसू बहाने लगे और हंसके चारों ओर मँडराते (चक्कर काटकर आते) हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों वे बन्धनमुक्त हंसकी आरती कर रहे हों। लोकमें भी किसी इष्ट बन्धुके पकड़े जाने पर लोग दुःखसे आंसू बहाते हैं तथा छूटने पर हर्षसे आँसू बहाते हैं तथा उस कारागारादिके बन्धनसे मुक्त इष्ट बन्धुकी आरती करते हैं] ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले श्रृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह—श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते श्रृङ्गारभङ्ग्या श्रृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १४५ ॥

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

कविराज-समूहके मुकुटके अलङ्कारके हीरा 'श्रीहीर' तथा 'मामल्लदेवी'ने इन्द्रिय-समूहको जीतनेवाले जिस 'श्रीहर्ष'को उत्पन्न किया, उसके चिन्तामणि मन्त्र (१४।८५) के चिन्तन (जपादि) के फलस्वरूप, श्रृङ्गार-रचनासे मनोहर 'नैषधीय चरित' नामक महाकाव्यमें प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

इधं केचित श्रीहरि
श्रीहर्षं ब्रह्मचारी चै